मैं इनसे मिला

: हिन्दी के कुछ प्रमुख साहित्य-सेवियों के इण्टरव्यू :

(पहली किश्त)

लेखक
श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

१९५२
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट, दिल्ली।

प्रकाशक
रामलाल पुरी,
आत्माराम एण्ड संस,
काश्मीरी गेट, दिल्ली।

१९५२

मूल्य
दो रुपये आठ आना

मुद्र
श्यामकुमार ग
हिन्दी प्रिन्टिंग ्र
क्वीन्स रोड, दिल

सहधर्मिणी सुशीला को

मेरा दृष्टिकोण

सन् '४१ की बात है। मैं बम्बई गया था। बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ संस्थापक आदरणीय भाई भानुकुमार जैन के यहाँ एक दिन हिन्दी साहित्यकारों के विषय में चर्चा हुई। उनके व्यक्तिगत जीवन, संघर्ष, 'हित्य-साधना आदि पर कितनी ही बातें हुईं। सब लोग इस बात र सहमत थे कि साहित्यकारों के व्यक्तिगत जीवन के विषय में कही ताने वाली बातों में बहुत-कुछ झूठ का अंश होता है। उसी समय रे मन मे यह विचार उठा कि क्यों न साहित्यकारों से मिलकर उनके ोवन के विषय में जानकारी प्राप्त की जाय। इस विचार का आना । कि दूसरे दिन बम्बई के प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यिक श्री दाऊदत्त ुपाध्याय 'अंकुर' के साथ मैं हिन्दी के अभिनव शैलीकार पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' से मिलने गया। जाने से पहले लोगों ने मुझसे कहा—"उग्र जी बड़े विचित्र जीव हैं, अक्खड़ स्वभाव के हैं, और गाली देकर बात करते हैं। जरा बचकर रहना।" कुछ ने तो कहा कि अच्छा है, आप मिलने ही न जायं। इन सलाहकारों की बातों से मेरे मन में कुछ भय तो हुआ, पर उग्र जी से मिलने की इच्छा कम न हुई गौर मैं उनसे मिलने जा पहुँचा। अंकुर जी ने परिचय कराया। परिचय कराने के बाद से लेकर तीन-चार घण्टे बाद तक उग्र जी ने मुझसे कोई ऐसी बात नहीं की जो उनके विषय में मुझसे न मिलने की सलाह देने वालों ने कही थी। 'विक्रम'-कार्यालय में (उन दिनों उग्र जी 'विक्रम' साप्ताहिक के सम्पादक थे) कवियों, साहित्यकारों तथा

सम्पादकों के सम्बन्ध में बातें हुईं, चौपाटी पर घूमते हुए और चाट खाते हुए उनके स्वभाव और जीवन के विषय में मैंने लोगों द्वारा उड़ाई गई बे-सिर-पैर की बातें पूछीं; पर उग्रजी की उग्रता का पता, जैसा लोगों ने मुझसे कहा था, कहीं न चला। मैंने अपनी और लोगों की कल्पना के विपरीत उग्र जी को एक मौलिक कला-सृष्टा और शैलीकार ही पाया। बम्बई में ही उन दिनों हिन्दी के वयोवृद्ध पत्रकार और नाटककार स्व० श्री हरिकृष्ण जौहर भी रहते थे। सत्तर-बहत्तर वर्ष के वृद्ध अनुभवी साहित्यिक के यहाँ जब मैं पहुँचा तो गद्गद् होकर बोले—"जीवन के अंतिम दिनों में आज आप मेरी साहित्य-साधना के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए आने वाले एक-मात्र सज्जन हैं। मेरे हर्ष की सीमा नहीं है।" उस वृद्ध साहित्यकार के इन शब्दों ने मुझे अनुभव कराया कि उन-जैसे अनेक महारथी हिन्दी की सेवा में मर-खप रहे हैं और उनके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं लिखता। फलत: लोगों को उनके जीवन के विषय में भी कोई जानकारी नहीं होती। यदि ऐसे अनुभवी साहित्यकारों से उनके तथा उनके समकालीन साहित्यकारों के विषय में कुछ तथ्य संग्रह हो सकें तो हिन्दी में एक नई सामग्री भावी आलोचकों तथा इतिहास-लेखकों को मिल जायगी, जिसके प्रकाश में वे उनके साहित्य को ठीक-ठीक कसौटी पर कस सकेंगे। एक बात और थी, जिसने मुझे इन साहित्यकारों से मिलकर इनके जीवन के अन्तरंग को जानने के लिए प्रोत्साहित किया। और वह यह कि मैं स्वयं साहित्य-साधना के पथ पर बढ़ना चाहता था, इसलिए मेरे मन में दूसरे साहित्यकारों के रहन-सहन, लेखन के ढंग, साहित्य के प्रति उनके दृष्टिकोण, उनकी परिस्थिति आदि को जानने की उत्कट अभिलाषा थी। बम्बई से घर लौटकर मैंने उग्र जी तथा जौहर जी के इण्टरव्यू दिल्ली के 'नवयुग' साप्ताहिक में छपने भेजे। 'नवयुग' के तत्कालीन सुयोग्य सम्पादक श्री महावीर अधिकारी ने उनकी प्रशंसा में टिप्पणी लिखते हुए उन्हें प्रकाशित किया और मुझे इस दिशा में लिखने के लिए

बढ़ावा दिया। 'नवयुग' में प्रकाशित इन भेंटों को पाठकों ने तथा हिन्दी-प्रेमियों ने भी बहुत पसन्द किया और मेरे पास अनेक पत्र ऐसे आए जिनमें मेरे इन लेखों के महत्त्व की स्वीकृति थी। मैं कुछ और साहित्यिकों से भी मिला और उनसे हुई भेंटों का विवरण 'हंस' में छपाया। 'हंस' में छपे हुए लेखों की आलोचना 'हिमालय' में हुई। 'हिमालय' के सम्पादक बाबू शिवपूजनसहाय ने जहाँ 'हंस' के लेखों की प्रशंसा की वहाँ मुझे कई लम्बे पत्र भी इस विषय में लिखे। एक पत्र में तो उन्होंने लिखा था कि यदि मैं केवल यही काम कर जाऊँ तो हिन्दी की बड़ी सेवा हो जाय। यही नहीं उन्होंने स्वयं 'हिमालय' में भी कई 'इण्टरव्यू' छापे और भरपूर पारिश्रमिक दिया। उनके-जैसे वयोवृद्ध तपस्वी साहित्यकार की सम्मति ने मुझे दृढ़ता से इस कार्य को करने की प्रेरणा दी तथा मैंने निश्चय किया कि केवल इस कार्य को छोड़कर कुछ न करूँगा और पाँच वर्ष में हिन्दी के ही नहीं, प्रत्युत समस्त देश की प्रांतीय भाषाओं के साहित्यकारों के इण्टरव्यू हिन्दी-माता के चरणों में समर्पित कर दूँगा। लेकिन पारिवारिक संकटों और जीवन की अन्य उलझनों के कारण ऐसा न हो सका और आज केवल कुछ साहित्यकारों के ही इण्टरव्यू यहाँ दिये जा रहे हैं।

मेरे 'इण्टरव्यू' देर से प्रकाशित हो रहे हैं, इसका भी एक कारण है। वह यह है कि पहले मैंने एक प्रश्नावली बनाकर साहित्यकारों से उसके उत्तर लिये थे। कवि, कथाकार, नाटककार, आलोचक आदि सबसे एक ही प्रश्नावली के उत्तर लेने से कुछ एकरसता आने लगी थी और कुछ अपूर्णता भी रहने लगी थी। इसी बीच सौभाग्य से श्रीमती महादेवी वर्मा से मिलना हुआ। ठहरा मैं श्री निराला जी के यहाँ था। महादेवी जी से जब मिला तो उन्होंने मेरी प्रश्नावली लेकर रख ली और बोलीं—"मैं प्रश्नों के उत्तर नहीं देती। वैसे जो बातें करनी हों, कीजिए।" मैंने उनसे बिना क्रमशः प्रश्नों के उत्तर लिये बातें कीं और घुमा-फिराकर सब प्रश्नों की बातें तो पूछ ही लीं, और भी बहुत-सी

बातें, जिनके लिए मैंने प्रश्न बनाए ही नहीं थे, जान लीं। घर आकर डायरी में उनसे जिस ढंग से बातें हुई थीं, लिख डालीं। उनकी भेंट का जो वर्णन लिखा तो प्रश्नों के क्रमशः उत्तर लेने वाले 'इण्टरव्यू' से वह अच्छा जँचा, उसमें स्वाभाविकता भी थी और रोचकता भी। यही निरालाजी के सम्बन्ध में हुआ। निराला जी की मानसिक स्थिति के कारण उनसे प्रश्न तो न पूछ सका, पर उनके व्यक्तित्व को निकट से पढ़ने का अवसर मिला। मैंने अपने ऊपर पड़ी उनके व्यक्तित्व की छाप को लिख दिया। इन दोनों लेखों की हिन्दी के पाठकों और विद्वानों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की। निराला जी के लेख को पढ़कर तो हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'रंग' रो पड़े। महादेवी जी और निराला जी के इन लेखों के प्रकाशन के बाद मैंने प्रश्नोत्तर का ढंग बदल दिया और अपने 'इण्टरव्यू' कलात्मक ढंग से लिखने का विचार किया। प्रश्न तो फिर भी रहे, पर उनका रूप बदल गया। व्यक्ति और उसकी साहित्यिक दिशा की विभिन्नता के कारण प्रश्न कुछ भिन्न हो गए। उनके लिखने में भी मैंने कुछ सावधानी से काम लिया। साहित्यकार और उसकी परिस्थिति का चित्र देने का प्रयत्न इसमें प्रमुख रहा। जब मेरे दृष्टि-कोण में विकास हुआ तो मैंने प्रश्नोत्तर वाले ढंग के लेखों को दोबारा लिखने की सोची। उन साहित्यकारों से मैं फिर मिला जिनके इण्टरव्यू लिख चुका था, और वे इण्टरव्यू नए सिरे से लिखे। ऐसे इण्टरव्यू इस संग्रह में कई हैं। कुछ अन्य प्रश्नोत्तर वाले इण्टरव्यू, जो पहले के लिये हुए हैं, इस संग्रह में इसीलिए नहीं दिये जा सके कि वे मेरी दृष्टि से अपूर्ण हैं। उन्हें पूर्ण करके फिर प्रकाशित कराने की व्यवस्था होगी।

इण्टरव्यू का कार्य बड़ा व्यय-साध्य और कष्ट-प्रद है। साहित्यकार के पास जाना, उससे उसके जीवन और साहित्य के आन्तरिक रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना, उसे लिखना, लिखकर फिर साहित्यकार के पास जाँचने के लिए भेजना और तब प्रकाशित कराना, इस प्रकार एक-एक 'इण्टरव्यू' में दो या तीन महीने लगते हैं। किसी-किसी में तो छः-छः

महीने लग जाते हैं। कभी-कभी इण्टरव्यू देने वाला किसी प्रश्न के उत्तर के लिए अपनी कोई पुस्तक सुझा देता है, तो उसे पढ़कर उस प्रश्न से सम्बन्धित जानकारी देनी पड़ती है। इसमें और भी कठिनाई हो जाती है। इण्टरव्यू लेने वाले को इसमें बड़ा खर्च भी करना पड़ता है। श्री सुमित्रानन्दन पंत का इण्टरव्यू लेने तो मैं बम्बई गया। काफी रुपया खर्च हुआ और पाँच - छः दिन जमकर बातें करके इण्टरव्यू लिखा; लेकिन जब जाँचने के लिए उसे मैंने पंत जी के पास भेजा तो मेरे दुर्भाग्य से वह उनसे खो गया। उसके बाद मैं एक बार फिर इलाहाबाद गया, पर उनसे भेंट न हो सकी। अब न जाने कब भेंट हो। लेकिन मैं इससे निराश नहीं हूँ। जब कभी अवसर मिलेगा, मैं पंत जी का इण्टरव्यू लूँगा अवश्य। मेरा यह कार्य 'मिशन' बन गया है। इसलिए मैं सब-कुछ सहकर भी इसे करते जाना चाहता हूँ। कभी-कभी तो ऐसा हुआ है कि मैं पत्र-व्यवहार द्वारा तिथि निश्चित करके किसी साहित्यकार के पास इण्टरव्यू लेने गया हूँ और उसके कार्यवश बाहर जाने या अस्वस्थ होने से भेंट नहीं हो सकी है, और मैं लौट आया हूँ। यही नहीं कभी-कभी तो साहित्यकार के 'मूड' में न होने के कारण भी इण्टरव्यू नहीं लिया गया है। बात यह है कि मैं इण्टरव्यू को चलती हुई चीज नहीं बनाना चाहता, और न प्रभाववादी आलोचना की भाँति निन्दा-स्तुति का समावेश ही उसमें करना चाहता हूँ। मेरा लक्ष्य तो साहित्यकार की साधना की कठिनाइयों का स्पष्टीकरण है। इसीलिए मेरे इण्टरव्यू कहीं भी साहित्यकार के ऊपर कीचड़ उछालते हुए न मिलेंगे। कुछ लोगों ने मुझे सुझाव दिया है कि मैं बुराइयों को भी देखूँ। कारण, उनके बिना व्यक्तित्व की पूरी झलक नहीं मिलेगी। उनके सुझाव की महत्ता को मैं मानता हूँ पर बहुत कम साहित्यकार ही अपनी बुराइयाँ बताने को उद्यत होंगे। यदि बता भी दें तो उनके प्रकाश में आने के पक्ष में तो कदापि नहीं हो सकते। जब इतनी कठिनाई है, तो मैं अपना

समय ऐसे प्रश्नों के पूछने में क्यों नष्ट करूं। इसलिए मेरी दृष्टि साहित्य से सम्बन्धित व्यक्तित्व के उद्घाटन की ओर ही रही है। वैसे मैं 'हॉबी' और व्यसनों की बातें पूछता हूँ और जो साहित्यकार बताते हैं उनके इण्टरव्यू में वे सब बातें लिख भी देता हूँ। बुराइयों का प्रकाशन साहस का कार्य है और महात्मा गांधी की भाँति उच्च चरित्र के व्यक्ति ही अपनी आत्म-कथाओं में वैसा कर सकते हैं। मैं तो इण्टरव्यू लिखकर इण्टरव्यू देने वाले व्यक्ति को दिखा भी इसलिए लेता हूँ कि कहीं कोई ऐसी बात न चली जाय, जो वह नहीं चाहता। मेरे ऐसा करने का कारण यह है कि मैं इस कार्य को शुद्ध साहित्य-सेवा की दृष्टि से करना चाहता हूँ, किसी व्यक्ति की अच्छाई-बुराई को उभारकर दिखाने की दृष्टि से नहीं। इण्टरव्यू में कटुता या गलत-फहमी को मैं स्थान नहीं देना चाहता।

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो 'इण्टरव्यू' और 'इम्प्रेशन' को एक समझते हैं। लेकिन यह भूल है। इम्प्रेशन और इन्टरव्यू दो भिन्न वस्तुएं हैं। इण्टरव्यू का अर्थ है, आप जो पूछें उसका उत्तर लिखें और इण्टरव्यू देने वाले की स्वीकृति की मुहर भी उस उत्तर पर हो, ताकि 'भूल-सुधार' करते हुए इण्टरव्यू लेने वाले को क्षमा-याचना न करनी पड़े। इम्प्रेशन का अर्थ यह है कि आप पर किसी के व्यक्तित्व का भला या बुरा जो प्रभाव पड़ा है, उसे आप ज्यों-का-त्यों व्यक्त कर दें। इन दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची समझना ठीक नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि इम्प्रेशन का नितान्त बहिष्कार होना चाहिए। नहीं, रोचकता के लिए इण्टरव्यू लेने वाला, इण्टरव्यू देने वाले की परिस्थिति, उसकी भाव-भंगिमा, और उसके व्यवहार से कुछ उपयोगी निष्कर्ष निकाल सकता है। पर वे निष्कर्ष भी ऐसे हों, जिनसे इण्टरव्यू देने वाले के स्वभाव की किसी विशेषता का पता चलता हो और जिन्हें वह स्वीकार भी करता हो। वह इम्प्रेशन ही क्या कि जिसमें जिसका इम्प्रेशन है उसी की स्वीकृति न हो। इसलिए इण्टरव्यू में मैंने कुछ

इम्प्रेशन का भी सहारा लिया है, पर वह इम्प्रेशन भी स्वीकृति की मुहर से रहित नहीं है। यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि कोरा इम्प्रेशन बुराई-भलाई को तीव्रता से प्रकट करने के कारण आकर्षक अवश्य हो सकता है, पर उससे मेरी दृष्टि में, साहित्य का विशेष हित नहीं हो सकता। इसीलिए मैंने तथ्य-संग्रह पर अधिक बल दिया है। हो सकता है, इससे मेरे इण्टरव्यू रोचक कम बन पाए हों। पर यदि वे इण्टरव्यू देने वाले के विषय में अधिक-से-अधिक जानकारी देते हैं, तो मैं अपने श्रम पर लज्जित नहीं हूँ।

इस संग्रह में वयोवृद्ध साहित्यकार भी हैं, और तरुण भी। यह जान-बूझकर नहीं किया गया है। मेरी इच्छा तो यह थी कि मैं इसमें एक ही वय के व्यक्तियों को रखूँ। लेकिन जैसा मैं कह चुका हूँ, यह कार्य बड़ा कठिन है। एक ही वय के साहित्यकारों से भेंट करने के लिए समय और धन पर्याप्त मात्रा में चाहिए, जो हिन्दी का एक सामान्य लेखक जुटा नहीं सकता। दूसरे हमारे हिन्दी के कुछ साहित्यकारों ने भी इण्टरव्यू देने में हिचकिचाहट दिखाई। इस कारण भी मेरा यह कार्यक्रम न चला। मैंने यह भी सोचा था कि पाँच या छः भागों में यह इण्टरव्यू निकलें; और कवि, कथाकार, नाटककार, निबन्धकार, आलोचक, आदि अलग-अलग पुस्तकों में रहें। इसमें भी कठिनाई का अनुभव हुआ। अन्त में मैंने निश्चय किया कि जैसे-जैसे साहित्यकारों से मिलने का अवसर मिलता जाय वैसे-वैसे उनके इण्टरव्यू लिये जायं और नए-पुरानों को एक साथ ही रखा जाय तो कोई हर्ज नहीं। हाँ, जब पूरा कार्य हो जाय तब नए सिरे से वय की दृष्टि से उनको संग्रहीत किया जा सकता है। मेरा ध्येय काम को करते जाने का है, इसीलिए मैंने इसमें जो इण्टरव्यू रखे हैं वे विभिन्न वय के साहित्यकारों के हैं। इनमें किसी पक्षपात की बात न समझी जाय, यह मेरा विनम्र निवेदन है। अभी मुझे लगभग ७०-७५ पुराने तथा नए साहित्यकारों के इण्टरव्यू लेने हैं, जिनमें से

दस के तो मैं ले चुका हूँ। पाँच-छः अधूरे हैं, जिन्हें पूरा करना है। उनके पूरा होते ही दूसरी पुस्तक प्रकाशित हो जायगी। पत्रकारों की तो एक अलग पुस्तक होगी। उसका भी आधा कार्य हो चुका है। एक और पुस्तक स्वर्गीय साहित्यकारों से सम्बन्धित 'काल्पनिक इन्टरव्यू' नाम की है। 'साहित्य-सन्देश' के 'श्यामसुन्दरदास-अंक' में मेरी बाबू श्यामसुन्दरदास पर ऐसी एक इण्टरव्यू छपी भी है। इसके लिए मैं स्वर्गीय साहित्यकारों के ग्रंथों के अध्ययन के साथ-साथ उनके वंशजों तथा परिचितों से मिलकर सामग्री एकत्रित कर रहा हूँ। इस प्रकार इण्टरव्यू लिखने का मेरा लम्बा कार्य है। हिन्दी के कलाकार और स्रष्टा यदि मुझे सहानुभूतिपूर्वक सहयोग और सहायता देंगे तो मैं निश्चय ही इस कार्य में कृत-कार्य हूँगा। यह प्रसन्नता की बात है कि अब तक जितने भी साहित्यकारों से मैं मिला हूँ उनमें से अधिकांश महानुभावों ने मेरे इस कार्य के पूर्ण होने की मंगल-कामना की है और पूरा-पूरा सहयोग भी दिया है।

इस पुस्तक की भूमिका मैं किसी विशिष्ट विद्वान् से लिखाता तो उचित होता, क्योंकि अपनी कृति के विषय में स्वयं कुछ कहना अत्यन्त कठिन कार्य है। लेकिन मुझे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करना था, इसलिए इसकी भूमिका मैंने ही लिखी है। मैंने ईमानदारी से अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करने की चेष्टा की है और इण्टरव्यू लेने के कड़वे-मीठे अनुभवों को स्थान न देकर सामान्य कठिनाइयों का ही उल्लेख किया है। इसे मूल्यांकन नहीं समझना चाहिए। मूल्यांकन तो हिन्दी के विद्वान् आलोचक और सजग पाठक करेंगे। मैं तो भयभीत हृदय से अपने इस प्रयास को उनकी कसौटी पर कसने के लिए भेज रहा हूँ। वे ही इसके खोटे-खरे का निर्णय करेंगे। इतना अवश्य है कि मेरे दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर यदि वे अपने निर्णय और सुझाव देंगे तो मैं आगे बढ़ने का साहस सँजोने का उपक्रम करूँगा। वैसे मैं उनके प्रहारों से लाभ उठाने के लिए भी प्रस्तुत हूँ; क्योंकि मुझे उनसे भी

अपनी भूलों के सुधारने का बल मिलेगा।

उन साहित्यकारों का मैं बहुत ऋणी हूँ, जिनके इण्टरव्यू इस पुस्तक में संगृहीत हैं, क्योंकि यदि वे मुझे पूरा सहयोग न देते तो मैं इस कार्य में कभी सफल न हो पाता। अन्त में मैं इस पुस्तक के प्रकाशक आत्माराम एण्ड सन्स दिल्ली के उदारमना संचालक श्री रामलाल पुरी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ, जिनकी कृपा से मेरा यह श्रम सार्थक हो सका। इस सम्बन्ध में हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस के श्री श्यामसुन्दर गर्ग का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने अत्यन्त अल्प-काल ने पुस्तक को इस रूप में मुद्रित करके मुझे उपकृत किया है।

सबसे अधिक आभारी मैं हिन्दी के ख्यातनामा लेखक तथा कवि भाई श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' का हूँ, जिन्होंने मुझे इस कार्य में समय-समय पर प्रोत्साहन और सहायता दी है। यह पुस्तक भी जैसी है, उनके ही अविरत प्रयत्न का फल है। इसकी आत्मा और शरीर के सँवारने-सजाने का समस्त श्रेय उन्हीं को है। मैं उनके प्रति एक बार फिर कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आगरा कालिज, आगरा
१४ जनवरी '५२

—पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

क्रम

१

बाबू गुलाबराय

उस दिन जब सहसा मैं प्रातःकाल बाबू जी के यहाँ पहुँचा तो वे एक लेख लिख रहे थे। समय ७ बजे का था। उनकी लेखनी अविराम गति से चली जा रही थी। लगता था, जैसे कोई तपस्वी समाधिस्थ हो। पहले तो मुझे कुछ संकोच हुआ कि क्यों मैं ऐसे समय उन्हें उनके कार्य में बाधा पहुँचाऊँ। लेकिन गत १५-१६ वर्ष से मैं उनके घर के सदस्यों-जैसा ही रहा हूँ, इसलिए मैंने अपने 'नमस्कार' द्वारा उनकी समाधि भंग कर दी। बहुत दिन बाद मैं उनसे मिला था, इसलिए उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से मेरा स्वागत किया और हाल-चाल पूछा। अपनी स्थिति से अवगत कराकर मैंने बाबू जी से कहा कि आज तो मैं आपका इण्टरव्यू लूँगा।

बाबू जी इस बात पर चौंके और बोले—"आप इतने दिन से मुझसे परिचित हैं, मेरे घर-बाहर की कोई बात आपसे छिपी नहीं है, फिर मेरे इण्टरव्यू की क्या आवश्यकता है?"

मैंने कहा - "बाबू जी, मेरे इण्टरव्यू मन-बहलाव के लिए नहीं हैं, यह आप जानते ही हैं। उनका स्थायी महत्त्व और साहित्यिक मूल्य है। इसीलिए मैं आपको कष्ट दे रहा हूँ।"

इस पर वे सहमत हो गए और बोले—"अच्छी बात है। आप जो-कुछ पूछना चाहें, पूछें।"

मैंने उनसे सबसे पहले प्रश्न किया—"आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके साहित्यकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"मेरे घर का वातावरण धार्मिक था। इसका परिणाम यह हुआ कि आठवें दर्जे तक उर्दू-फारसी पढ़ने पर भी मुझे संस्कृत और हिन्दी से प्रेम हो गया। मेरी माता जी सूर, तुलसी और कबीर के पद गाया करती थीं।

कथा-वार्ता का आयोजन भी जब-तब होता रहता था। इस वातावरण का प्रभाव मेरे मस्तिष्क पर पड़ा और मेरे संस्कारों में साहित्यिकता का बीज पड़ गया। संस्कृत के प्रति तो मेरा ऐसा झुकाव हुआ कि मैंने नवें दर्जे में ही संस्कृत ले ली और बी० ए० तक पढ़ी। मैंने उसके पश्चात् स्वाध्याय से भी संस्कृत का ज्ञान प्राप्त किया। उस धार्मिक वातावरण का ही यह भी फल हुआ कि मैंने एम० ए० दर्शन-शास्त्र में किया।"

"लेकिन आप साहित्य में कैसे आ गए ? आपको तो दार्शनिक रहना चाहिए था।"—मैंने पूछा।

वे बोले—"इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। मेरी दार्शनिक प्रवृत्ति को आप साहित्य का साधक ही समझिए, बाधक नहीं। कारण सन् १६१३ में जब मैं अपने दर्शन के बल पर छतरपुर में दार्शनिक सलाहकार बनकर गया, तो वहाँ मुझे मिश्र-बन्धुओं के सम्पर्क में आने का सुअवसर मिला। उनकी देखा-देखी मुझे भी हिन्दी में लिखने का शौक हुआ। यों आरम्भ से ही मुझे लेखन में रुचि तो थी, पर मैं अंग्रेजी में लिखा करता था। मिश्र-बन्धुओं के सहयोग से हिन्दी की ओर मेरी रुचि हुई। सौभाग्यवश मुझे कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन-जैसे कलाकार प्रकाशक का सहयोग भी मिल गया। फलतः सबसे पहले 'शान्ति-धर्म' नामक पुस्तक निकली। उसके बाद 'फिर निराशा क्यों ?' और 'मैत्री धर्म' का प्रकाशन हुआ तथा

'कर्तव्य-शास्त्र' और 'तर्क-शास्त्र' आदि ग्रन्थ निकले। ये सब ग्रन्थ मेरी दार्शनिक प्रवृत्ति के परिचायक थे, परन्तु जब एक बार मैनपुरी में अन्धे पण्डित धर्मराज शास्त्री से रसों के बारे में यह सुनकर बहुत स्फूर्ति हुई कि रस-सिद्धान्त में बहुत मनोवैज्ञानिक सामग्री है। इस प्रकार दर्शन की ही लकड़ी टेकते हुए मैंने साहित्य में प्रवेश किया। रस के अध्ययन के लिए छतरपुर में प्रचुर सामग्री थी और पंडितों का समागम भी। फलस्वरूप वहाँ ही 'नव रस' नामक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ और मैं साहित्यिकों की बिरादरी में गिना जाने का प्रमाण-पत्र पा गया।"

सहज भाव से वे अपनी बात कह रहे थे। हाथ में पिनों की डिबिया थी, जिसकी ढक्कन वाली गद्दी में वे पिन गड़ाते और निकालते जा रहे थे। मुझे लगता था मानो वे चिन्तन की गति के साथ तारतम्य मिलाने के लिए ऐसा कर रहे हों। जब मेरे दूसरे प्रश्न का उत्तर उन्होंने समाप्त किया तो मैंने उनसे पूछा—"वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिनको आप अधिक पसन्द करते हैं और जिनका आपके जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा है?"

उन्होंने बताया—"देशी कलाकारों में मुझे सबसे अधिक सूर और तुलसी ने प्रभावित किया है। यद्यपि आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि तुलसी के मानस का पहला-पहला परिचय मुझको ग्राउस साहब के अंग्रेजी अनुवाद से हुआ था। धार्मिक दृष्टि से मैं 'मानस' को पढ़ता था पर अर्थ बहुत कम समझता था। जब अंग्रेजी से मुझे अर्थों में साहित्यिकता दिखाई दी तो ज्वाला-प्रसाद की टीका से मैंने रामायण को पढ़ा और स्वयं भी उसमें से कुछ नई-नई बातें खोजकर निकालीं। सूर का परिचय तो, जैसा मैंने कहा, माता जी द्वारा गाए पदों से ही हो चुका था। उनमें से कुछ का अर्थ तो अब साहित्य-शास्त्र पढ़ने और प्रौढ़ता प्राप्त करने पर अवगत हुआ है। गद्य का प्रारम्भिक परिचय मुझे नियाज़

(मुन्शी सदा सुखलाल) के 'सुख सागर' से हुआ। उन दिनों 'चन्द्र-कान्ता सन्तति' का बहुत प्रचलन था, किन्तु वह मुझे इतना ही आकर्षित कर सकी कि उसके ५०-१०० पृष्ठ पढ़कर उसकी शैली से परिचित हो जाऊँ। उपन्यासों में मुझे बंगला-उपन्यास पढ़ने का शौक रहा। बंकिम बाबू और रमेश बाबू की ग्रन्थावलियाँ मैंने बड़े चाव से पढ़ीं। अंग्रेजी-उपन्यासकारों में डिकिंस ने मुझे बहुत प्रभावित किया। वैसे मैंने 'पिलिग्रिम्स प्रोग्रेस', 'वेनिटी फेयर', 'रोबिन्सन क्रूसो' और 'गुलीवर्सटेबिल' भी बड़ी रुचि के साथ पढ़े हैं। लेकिन ये सब मनोरंजन की वस्तुएं रहीं। चरित्र-निर्माण के लिए सेम्युअल की 'सेल्फ हैल्प' और ब्लेकी की 'सेल्फ कल्चर' ने बहुत सहायता की। विचारोत्तेजना की दृष्टि से हक्सले, हर्बर्ट स्पेन्सर और डारविन ने मुझे बहुत प्रभावित किया, पर दर्शन के गम्भीर अध्ययन से वह प्रभाव जाता रहा। इनसे इतना लाभ अवश्य हुआ कि वैज्ञानिक संस्कार अवश्य बन गया, जो मुझमें अब तक है। कला की दृष्टि से स्टीवेन्सन के निबन्धों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। हिन्दी के लेखकों में मुन्शी प्रेमचन्द, आचार्य शुक्ल और प्रसाद जी मुझे प्रिय रहे। वैसे समय बिताने के लिए बहुत-सी चीजें पढ़ीं और 'राम-चन्द्रिका' आदि ग्रन्थों का अध्ययन किया, किन्तु जो प्रभाव 'विनय-पत्रिका' और 'गीता-वली' का मेरे ऊपर पड़ा वह हिन्दी के और किसी कविता-ग्रन्थ का नहीं। 'नव रस' लिखते समय मैं शृंगारिक उक्तियों से प्रभा-वित अवश्य हुआ, पर वह प्रभाव तात्कालिक ही (चाट खाने का-सा) रहा।"

आलोचना बाबू जी का प्रधान क्षेत्र है। इसलिए मैंने उपर्युक्त प्रश्न के पूरक प्रश्न के रूप में उनसे पूछा—"आलोचकों में आप किसको पसन्द करते हैं ?"

बाबू जी ने कहा—"सबसे अधिक मैंने शुक्ल जी को पढ़ा

है और उन्हीं का लोहा मानता हूँ। बात यह है कि मैं उन्हीं आलोचकों को पसन्द करता हूँ जो अपनी कृति को कलात्मक रूप दे देते हैं। शुक्ल जी ऐसे ही आलोचक हैं; इसीलिए मैं उनको ओर अधिक आकर्षित हुआ हूँ। उनमें गंभीर अध्ययन के साथ अपने मत को दृढ़ता पूर्वक प्रकट करने की कला थी। उस दृढ़ता के साथ सहसा उनसे मतभेद रखने वाले को अपना मत प्रकट करने का साहस नहीं होता था। उनकी सूर और तुलसी की आलोचनाएं एक विशेष साहित्यिक उमंग को लेकर चलती थीं और बीच-बीच में हास्य और व्यंग से उनमें सजीवता भी आ जाती थी।"

"अन्य आलोचकों के विषय में भी कुछ कह सकें तो बड़ी कृपा हो।"

बाबू जी ने इस पर कहा—"मैंने अपनी पसन्द बतला दी है और उसकी एक कसौटी भी दे दी है। वर्तमान आलोचना से मैं असन्तुष्ट नहीं हूँ। सभी आलोचकों में अपने-अपने गुण और विशेषताएं हैं। उनके साथ कुछ न्यूनताएं भी हैं। मैं किसी आलोचक के बारे में दवाई की शीशी का-सी चिप्पी नहीं लगाना चाहता कि अमुक मनोवैज्ञानिक आलोचना करता है तो अमुक रसवादी है और अमुक मूल्यवादी। विशेष-विशेष झुकाव विशेष आलोचकों में होते हैं, लेकिन कोई भी केवल एक प्रवृत्ति को लेकर नहीं चलता। इसलिए उनके साथ तब तक न्याय नहीं हो सकता जब तक कि पूरी-पूरी बात न कही जाय। पूरी बात कहने के लिए पूरा अध्ययन चाहिए और मैंने उतना विस्तृत अध्ययन किया नहीं है। इसलिए मैं कुछ अधिक नहीं कह सकता।"

मैंने कहा—"अच्छी बात है। यदि आप अन्य आलोचकों के सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकते तो अपने आलोचना-सम्बन्धी दृष्टिकोण के सम्बन्ध में ही कुछ बताइए।"

बाबू जी हँसे और बोले—"अपनी आलोचना के सम्बन्ध में आपसे कुछ कहते भी संकोच होता है, पर फिर भी मैं पिछले प्रश्न की भाँति इस प्रश्न को टालूँगा नहीं। मेरा दृष्टिकोण सर्वत्र और इसीलिए आलोचना में भी समन्वयवादी है। काव्य, कला और साहित्यांगों के विवेचन में मैंने इसी पद्धति को अपनाया है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में परिभाषाएं देने में मैंने देशी-विदेशी विद्वानों के मतों का समन्वय करके ही अपनी परिभाषाएं दी हैं। ऐसा करते समय साहित्य के जाने-माने आलोचकों से संयत विरोध भी मेरी आलोचना में प्रकट हो गया है। जैसे साधारणीकरण और रहस्यवाद के विवेचन में आचार्य शुक्ल का विरोध। लेकिन मैं अपनी आलोचना में कटुता नहीं आने देता। यह तो सैद्धान्तिक आलोचना की बात है। व्यावहारिक आलोचना में लेखक के भाव और कला पक्ष के साथ उसके मानसिक और सामाजिक प्रभावों की भी आलोचना रहती है। व्यक्ति की मानसिक दशा के विश्लेषण को महत्त्व देते हुए भी मैं फ्रायडवादियों के सिद्धान्तों का सहारा नहीं लेता। मैं साधारण मनोविज्ञान तक ही अपने को सीमित रखता हूँ, जिसमें जातीय तथा परिस्थितिगत मनोविज्ञान का समावेश होता है। कवियों की आलोचना में कवि के उद्देश्य की खोज करता हूँ और उसके साथ ही उसके कथन और सूक्तियों के औचित्य तथा भाव-सुकुमारता, अलंकार, लक्षणा, व्यंजना आदि की कला देखता जाता हूँ। पाठक को रसास्वाद कराना ही मेरा ध्येय होता है। गद्य-लेखकों में भी यही बात है। उनके हृदय की कुंजी की ही मैं पहले खोज करता हूँ। मेरी अच्छी आलोचनाओं में लेखक का पूरा-पूरा तथ्य आ जाता है। मैं हास्य-व्यंग का प्रयोग खूब करता हूँ। अपनी व्यावहारिक आलोचना को मौलिक कृति की भाँति सार-सँभालकर एक कला-कृति बनाना मेरा लक्ष्य

होता है। 'साहित्य-संदेश' के सम्पादक के नाते मुझे कभी-कभी बहुत-सी आलोचनाएं ऐसी भी लिखनी पड़ती हैं, जिनमें मेरा हृदय कम होता है। फिर भी अपनी आलोचनाओं में मैं 'स्वान्तः सुखाय' को ही सिद्धान्त मानता हूँ। चाहे 'साहित्य-संदेश' के लिए लिखूँ, या किसी दूसरी पुस्तक के लिए।"

"आपने छायावाद-रहस्यवाद के सम्बन्ध में शुक्ल जी से अपने मतभेद की बात कही है। इन वादों के सम्बन्ध में और साथ ही इनके विरोधी प्रगतिवाद के सम्बन्ध में अपना मत दें तो बड़ी कृपा हो।"

"सन् १६३२ में छतरपुर से लौटने पर यहाँ मैंने छायावाद की चर्चा सुनी और उसकी ओर आकर्षित हुआ। छायावाद के ऊपर पुरानी चाल के साहित्यिकों का प्रायः प्रहार हुआ करता था। मेरी गुण-ग्राहिका-वृत्ति ने उसको सहन न किया। मैंने कुछ छायावादियों का पक्ष समर्थन किया। उनकी कला से और प्रकृति-प्रेम से मैं प्रभावित हुआ। उनकी राष्ट्रीयता भी एक विशेष कोमलता लिये हुए थी। शृंगारिकता में नारी-उपासना थी, किन्तु उसके साथ उसका पूरा मान भी था। वह मुझे केवल 'भोग्या' नहीं लगी वरन् ऐसी 'आराध्या' लगी जिसके आगे कोई भी आत्म-समर्पण कर सके। उसके आत्म-समर्पण की सात्विकता ने उस शृंगारिकता को मेरी दृष्टि में क्षम्य बना दिया। रहस्यवाद की ओर मैं इसीलिए आकर्षित हुआ कि मैं समझता था कि उस समय के बढ़ते हुए भौतिकवाद से देश को हानि पहुँचने की संभावना है। रहस्यवाद में थोड़ा-बहुत ढोंग होते हुए भी मैंने यह देखा कि प्रत्येक मनुष्य के जीवन में कुछ क्षण ऐसे अवश्य आते हैं, जिनमें कि वह सांसारिकता से अपने को कुछ ऊपर उठा हुआ पाता है। उन्हीं क्षणों की अनुभूति को कवि लोग कल्पना द्वारा बढ़ा लेते हैं। उसमें अतिरंजना होते हुए

भी एक आध्यात्मिकता की ओर झुकाव रहता है, इसीलिए शुक्ल जी के आदेश मुझे इसके विरुद्ध न कर सके। मैंने इसीलिए शुक्ल जी का विरोध भी किया।

आचार्य शुक्ल जी का रहस्यवाद और छायावाद पर यह आक्षेप है कि ये दोनों जीवन से दूर हटे हुए हैं। मैं समझता हूँ कि यहीं प्रगतिवाद की भूमिका है। प्रगतिवाद की सबसे बड़ी देन साहित्य को जीवन की ओर झुकाना है। इसीलिए मैंने कुछ सीमाओं के साथ प्रगतिवाद का पक्ष लिया। प्रगतिवाद में जो मुझे बुराई लगी, वह कुछ तो मेरी कोमल प्रकृति के कारण और कुछ दार्शनिक प्रवृत्ति के कारण। मेरी प्रकृति समझौते के पक्ष में अधिक है। मैं प्रगतिवाद के वर्ग-संघर्ष और उग्रता के विरुद्ध रहा। इसके अतिरिक्त मैं जीवन को केवल किसान-मजदूरों में ही संकुचित नहीं देखता। मैं प्रेमचन्द की भाँति बुरे-से-बुरे व्यक्ति में भी भलाई की चिनगारी देखने के पक्ष में रहता हूँ। मेरा सिद्धान्त है कि पूँजीपतियों की हृदय-हीनता का अवश्य विरोध किया जाय, किन्तु उनको मिटाकर नहीं वरन् उनको सन्मार्ग पर लगाकर। इस सम्बन्ध में मैं कुछ-कुछ गांधीवाद से प्रभावित हूँ। मैं जीवन के भौतिक मूल्यों के साथ आध्यात्मिक और कलात्मक मूल्यों में भी विश्वास रखता हूँ। रोटी मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक वस्तु है, उसके बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता, किन्तु केवल रोटी पर ही रहने से उसका जीवन बुद्धि और कला से रहित पशु का-सा हो जायगा। यद्यपि प्रगतिवाद भी कला और संस्कृति में विश्वास रखता है तथापि वह कला को भौतिक आवश्यकता की पूर्ति के बाद स्थान देता है। मैं कला और भौतिक आवश्यकताओं के साथ-साथ चलने के पक्ष में हूँ। महादेवी जी के शब्दों में मैं चक्की को चलते रहना आवश्यक मानता हूँ, किन्तु उसके साथ राग की ऐसी ध्वनि सुनना चाहता हूँ

जो चक्की के परिश्रम में एक कोमलता देती रहे और जीवन को भार बनने से बचावे।"

बातचीत बड़ी देर से गम्भीर हो रही थी। यह सोचकर जब मैंने बाबू जी से एक प्रश्न उनके लिखने के ढङ्ग और रहन-सहन के सम्बन्ध में किया तो उन्होंने इस प्रश्न से सन्तोष-सा प्रकट करते हुए कहा –"लिखना ही मेरा मुख्य व्यवसाय है। मैं इस कार्य में पर्याप्त सावधानी से काम लेता हूँ। यद्यपि मेरे जीवन में व्यवस्था नहीं है और यदि कोई मेरी लिखी हुई पाण्डुलिपियाँ देखे तो उनकी व्यवस्था से मेरे सम्बन्ध में उनकी यही धारणा होगी कि यह लेखक बड़ी असावधानी से लिखता है। तथापि वास्तव में बात यह है कि मेरी असावधानी के कारण ही मेरी पाण्डुलिपियाँ बड़ी कटी-कटाई और कहीं-कहीं पढ़ने में दुरूह हो जाती हैं। मैं किसी लेख के आरम्भ करने पूर्व दो-चार पन्ने अवश्य खराब कर देता हूं। मेरा विश्वास है कि जब तक अच्छा, चटपटा आरम्भ न हो तब तक लेख को शुरू करना ही नहीं चाहिए। लिखने के पूर्व कभी-कभी मैं प्रारम्भिक एक-दो अनुच्छेदों का मानसिक प्रारूप तैयार कर लेता हूँ। जब तक मैं किसी विषय से प्रभावित नहीं होता तब तक मैं उस विषय पर लेखनी नहीं उठाता। यद्यपि लेखन मेरी आजीविका का साधन है तथापि केवल धन के लिए मैंने कभी नहीं लिखा। बच्चों के लिए रीडरें लिखीं तो भी उनमें एक अध्यापक का-सा उत्साह रहा। मैं विद्यार्थियों का हित ध्यान में रखकर लिखता हूँ और उसमें मुझे प्रसन्नता होती है। इसीलिए मेरी रचनाएं 'अर्थकृते' होते हुए भी 'स्वान्तः सुखाय' का रूप धारण कर लेती हैं। मैं हर बात का तथ्य जानने का प्रयत्न करता हूँ और उसके बाद उस तथ्य को अपने शब्दों में संगति आदि के तार्किक नियमों के साथ अभिव्यक्ति देता हूँ। मैं गहरा जाने का प्रयत्न करता हूँ, किन्तु उसी हद तक जिस हद तक कि मेरे पाठक

भूल-भुलैयाँ में पड़ने से बचे रहें। लेखन का उद्देश्य मैं यही समझता हूँ कि पाठक को अपने ज्ञान का पूरा-पूरा लाभ दे सकूँ, और मैं उसी रचना को सफल समझता हूँ जिसमें कि पाठक ज्ञानोपार्जन में मेरे साथ कदम मिलाकर बढ़ सके। मैं अधिकतर रात्रि के अन्तिम प्रहरों में अर्थात् ३ बजे के बाद लिखना पसंद करता हूँ। रात्रि के प्रथम प्रहरों में मैंने बहुत कम लिखा है। उस वक्त घर का वातावरण मुझे पर्याप्त रूप से शान्त मिलता है और जीवन की चिन्ताओं से भी सोकर मुक्त हो जाता हूँ। अधिकांश लेखन-कार्य चारपाई पर ही होता है किन्तु मेज़-कुर्सी से मुझे कोई द्वेष नहीं है। जब मैं किसी विषय से प्रभावित हो जाता हूँ और मेरे हृदय में लेखन-रस उत्पन्न हो जाता है तब घर का शोर-गुल, बच्चों का ऊधम और जीवन की समस्याएं उसमें बाधा नहीं डालतीं। मेरा उद्देश्य अच्छी पाण्डुलिपि बनाना नहीं होता वरन् विषय का अच्छा प्रतिपादन करना होता है। मुझे इस बात की परवाह नहीं कि बादामी कागज पर लिखूँ या सफेद पर, लाइनदार पर लिखूँ या बिना लाइनदार पर, ठीक कटे हुए कागज पर लिखूँ या ठीक न कटे हुए पर। कागज के साइज की भी मैं चिन्ता नहीं करता, किन्तु मैं फुलस्केप साइज़ पर लिखना अधिक पसन्द करता हूँ। यथेष्ट कागज के अभाव में कभी मेरा लिखना रुका नहीं। फाउण्टेन पेन से ही प्रायः मैं लिखता हूँ, किन्तु यह भी मेरे लिए अनिवार्य साधन नहीं। कभी-कभी तो मैंने लकड़ी में निब बाँधकर भी लिखा है और कभी बच्चों के सरकण्डे की कलम से भी। लिखते समय मुझे किसी भौतिक उत्तेजना की आवश्यकता नहीं रही। अधिक-से-अधिक मुझे सौंफ या सुपारी की आवश्यकता रहती है और मैं मध्ये-मध्ये आत्म-नियम के सिद्धान्त को मानता हूँ। पुस्तकों की तो बात अलग है, किन्तु लेखों को यदि बहुत बड़े न हुए तो एक ही बैठक में समाप्त कर

देता हूँ। इसका कारण यह है कि जितना अध्ययन आवश्यक होता है उतना पहले ही कर लेता हूँ। अध्ययन और लेखन साथ-साथ नहीं चलता। किताबें अवश्य पास रहती हैं केवल उद्धरण देने के लिए। यदि यों बीच में कार्यवश लेख को अधूरा छोड़कर कहीं उठ जाऊँ तो मेरी विचार-शृंखला टूटती नहीं। मैं कागज पर नोट कम करता हूँ। मेरे मानस-पटल के लेख पर्याप्त काल तक—कम-से-कम उतने काल तक जितने में कि लेख समाप्त हो—अपेक्षाकृत स्थायी रहते हैं। मेरे लिखने के काल में प्रायः मेरा नाई कभी-कभी अवश्य बाधक होता है। उसको भी समय का अभाव रहता है और मुझे भी। इस संघर्ष में उसी की जीत होती है, क्योंकि मैं स्वभावतः दूसरों का अधिक खयाल रखता हूँ। लिखने के कारण मेरे नित्य-कर्म बड़े अव्यवस्थित रहते हैं। इसका मुझे खेद रहता है। मैं चाहता अवश्य हूँ कि घूमने जाऊँ, प्रातःकाल ही स्नान कर लिया करूँ; लेकिन लेखन का मोह इन पुण्य कार्यों में बाधक होता है।

यद्यपि मैं सादा जीवन और उच्च विचार के सिद्धान्त में विश्वास रखता हूँ तथापि व्यवहार में उच्च विचार के साथ मैं उतना सरल नहीं हूँ जितना कि ऊपर से दिखाई पड़ता हूँ। घर में चाहे मैं गांधी जी का अनुकरण कर लूँ, किन्तु बाहर मैं समाज के अनुकूल वेश-भूषा में ही जाता हूँ। खाली कुर्ते-धोती में बाहर बहुत कम जाता हूँ। कोट को मैं रखता अवश्य हूँ किन्तु उसको कन्धे पर ही बौद्ध भिक्षुओं के चीवर की तरह स्थान देता हूँ। धूप पड़ने पर वह छाते का काम देता है। छाते का आडम्बर मैं अपने साथ रखना पसन्द नहीं करता—विशेषकर इसलिए कि मैं भुलक्कड़ अधिक हूँ। किसी के घर जाते ही वह कोट अपने उचित स्थान पर आ जाता है। पायजामा मैं बहुत कम पहनता हूँ। राज्य की नौकरी में भी केवल उन्हीं अवसरों पर पहनता था, जिन पर उसका पहनना

आवश्यक हो जाता था। लेकिन मैं अपनी पोशाक का यथासंभव ध्यान रखता हूँ। फिर भी मेरे मित्र मुझको इस सम्बन्ध में लापरवाह ही समझते हैं और वास्तव में उनकी धारणा किसी अंश तक ठीक ही है; क्योंकि कपड़े की सार-सँभाल में अपना समय व्यर्थ नष्ट करना मुझे पसन्द नहीं। मैं नोटिस मिलने पर तीन मिनट में ही बाहर जाने के लिए तैयार हो जाता हूँ। यदि दुर्व्यवस्था के कारण मेरे जूतों, टोपी या छड़ी के मिलने में देर न हो जाय तो दूसरी बात है। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आहार की सरलता मुझे बहुत-से रोगों से बचा सकती है तथापि जिह्वा का स्वाद स्वास्थ्य-रक्षा के सिद्धान्तों पर विजय प्राप्त कर लेता है। हाँ, रोग-ग्रस्त होने पर अवश्य जिह्वा का संयम बड़ी कड़ाई से करता हूँ। खाने-पीने में मध्यम मार्ग का अनुयायी हूँ। मेरा सिद्धान्त है कि उचित और मर्यादित में रूप खाई जाने पर कोई भी चीज हानिकारक नहीं होती।

घर के सम्बन्ध में मेरा दृष्टिकोण यह है कि बड़े-से-बड़े घर में यदि ऐसी खिड़कियाँ न हों, जिनसे आकाश दिखाई दे सके और प्राकृतिक वायु का संचार हो सके, तो उस घर में मुझे ऊब उत्पन्न होने लगती है। सजावट का सामान यदि स्वच्छ न हो तब भी वह मेरे लिए अरुचिकर हो जाता है। अच्छे सजे हुए कमरे मुझे बहुत पसन्द हैं और उनको देखकर चित्त प्रसन्न होता है। यद्यपि मैं अपने बच्चों द्वारा उत्पन्न घर की व्यवस्था को स्वयं बिगाड़ता ही रहता हूँ तथापि मेरी सौन्दर्य-प्रियता असुन्दरता को बरदाश्त नहीं कर सकती। मेरी पुस्तकें रोज अलमारी में लगाई जाती हैं और रोज ही वे आवश्यकता-वश अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। जाड़े में तो मैं बिस्तर का व्यवहार करता हूँ, किन्तु गर्मियों में मुझे बाँस की पाटियों की खरेरी खाट अधिक प्रिय लगती है; और मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि भाग्यवश

यदि राष्ट्रपति के भवन में मुझे रहने का अवसर मिले तो वहाँ भी वैसी चारपाई माँगकर सोऊँगा।"

निस्संकोच भाव से बाबू जी ने अपने घरेलू जीवन का जो परिचय दिया उससे उनकी सादगी, सरलता और उच्चता प्रकट होती है। मैं उनकी महानता के प्रति मन-ही मन श्रद्धा से अभिभूत हो गया। फिर मैंने गम्भीरता से यह प्रश्न किया--"क्या इतनी लम्बी साहित्य-साधना में कभी आपका जी भी ऊबा है? यदि हाँ तो उसके क्या कारण रहे हैं?"

बाबूजी ने कहा--"साहित्य-साधना से मेरा जी कभी नहीं ऊबा, क्योंकि मैं अर्थ को साहित्य-सेवा का मूल लक्ष्य नहीं मानता। मुझे साहित्य-सेवा से आवश्यकता के अनुकूल धन मिलता रहा है और यश भी उतना जितने का कि मैं अधिकारी हूँ। मैं अपनी कमियों को जानता हूँ। इससे अधिक यश की अपेक्षा नहीं करता। कभी-कभी प्रकाशकों की टालमटोल पर अवश्य झूँझल आती है, लेकिन भले प्रकाशक मेरी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और बुरे प्रकाशकों से भी मिलता रहता है। साहित्यिक होने के कारण कुछ दण्ड भी भोगने पड़ते हैं—सभा-सोसाइटियों में व्यर्थ समय व्यतीत करना पड़ता है। मैं हाथ जोड़कर कह भी देता हूँ कि भाई हिन्दी का उपकार मैं प्रचार द्वारा नहीं कर सकता, ग्रन्थ-रचना द्वारा ही कर सकता हूँ। बहुत-सी जगह मुझे केवल इसलिए जाना पड़ता है कि लोग यह न कहें कि हिन्दी और साहित्य से इनकी रुचि नहीं है। मैं कवि-सम्मेलनों में एक सीमा तक ही आनन्द ले सकता हूँ। जब 'कविगण अपनी पुरानी ही कविताएं दुहराते हैं तब ऊब पैदा होती है या कोई कवि अपनी शालीनता खो बैठता है तब मैं उसको सहन नहीं कर सकता। संयम के साथ समय की पूर्ति के लिए बैठा रहता हूँ।"

यहीं मैंने उनसे पूछा--"आपकी सर्वश्रेष्ठ कृति कौन-सी है,

जिसे लिखकर आपको सन्तोष हुआ है।"

बाबू जी ने बताया—"मुझे 'तर्क-शास्त्र' पर भी गर्व है किन्तु उसको दुहरा न सकने के कारण वह गर्व कम हो जाता है। यही हाल 'नव रस' का है। 'नव रस' का स्थान 'सिद्धान्त और अध्ययन' ने ले लिया है, जिससे मुझे पूर्ण सन्तोष है।"

"आपने पहले कहा था कि आपका मुख्य व्यवसाय साहित्य-सेवा है। तो क्या साहित्योपजीवी होकर जिया भी जा सकता है ?"

"इस सम्बन्ध में मुझे एक अंग्रेजी-लेखक की यह उक्ति याद आती है कि 'साहित्य बैसाखी का काम नहीं दे सकता, छड़ी का काम ही दे सकता है' यह साधारण वाक्य है। लेकिन कुछ लोगों के लिए वह बैसाखी का काम करता है। मेरी मुख्य आजीविका साहित्य से है। किन्तु इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि मैं साहित्य के ऊँचे स्तर से विद्यार्थियों के स्तर तक उतरना जानता हूँ और दूसरे कुछ प्रकाशक भी मेरे नाम का उपयोग करना जानते हैं। मैंने प्रायः ऐसी ही पुस्तकें लिखी हैं, जिनसे विद्यार्थियों का हित हो। जो लोग स्कूलों और कालिजों के लिए पुस्तकें नहीं लिख सकते वे चाहे चोटी के लेखक ही क्यों न हों, साहित्य-सेवा से अपनी आजीविका नहीं चला सकते।"

बाबू जी का पर्याप्त समय मैं ले चुका था इसलिए केवल मैंने उनसे एक प्रश्न और पूछा। वह प्रश्न था—"हमारे साहित्य के अभावों के सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?"

बाबू जी ने गर्व-सा अनुभव करते हुए यह कहा—"मुझे साहित्य की गति-विधि से सन्तोष होते हुए भी उसमें बहुत-सी कमियाँ दिखाई देती हैं। पर्याप्त और उचित वैज्ञानिक साहित्य के बनने में तो अभी मेरी समझ में ५० वर्ष की देर है, किन्तु विचारोत्तेजक साहित्य के निर्माण में हमारे लेखकों का ही आलस्य

है। हिन्दी में क्षमता की कमी नहीं। अर्थ-शास्त्र, नागरिक-शास्त्र और प्राणि-शास्त्र के आधार पर जीवन की समस्याओं को हल करने वाला शास्त्र सहज में लिखा जा सकता है। अब कालिजों में हिन्दी में उत्तर देने की छूट हो गई है। इससे अब आशा हुई है कि विभिन्न विषयों के साहित्य का निर्माण जल्दी हो सकेगा। जिस चीज की माँग होती है उसके निर्माण में कोई कठिनाई नहीं होती। भाषा-विज्ञान और साहित्यालोचन-जैसे कठिन विषयों को जब साहित्य में स्थान मिला तो उच्च कोटि के ग्रन्थ भी सामने आने लगे। हमारी कविता में अब भी बहुत कुछ पीटी लकीर पर ही कविता होती है। कवियों की न दृष्टि खुली है, न हृदय। देश को स्वतन्त्रता अवश्य मिली है, किंतु दुर्भाग्यवश कुछ कठिनाइयों और हमारी ही कमजोरियों के कारण उस स्वतन्त्रता के जो स्वप्न हम देखते थे वे पूरे न हो सके, फिर भी बहुत-सी चीजें ऐसी हैं जिन पर प्रत्येक सहृदय गर्व कर सकता है। रोटी और कपड़े को हमने अधिक महत्त्व दिया है। स्वतन्त्रता से जो हमारा जातीय गौरव बढ़ा है और हमारा हीनता भाव दूर हुआ है उसकी ओर न हमारे कवियों का ध्यान गया है और न उन्होंने एक नई उल्लासमय चेतना और नई संस्कृति के निर्माण का प्रयत्न किया है। वे दोष-दर्शन की ओर अधिक गए हैं, किन्तु हमारे काव्य के आदर्शों के अनुकूल 'कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे' के आधार पर सत्परामर्श देने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया। न उन्होंने प्रेम के आधार पर सामाजिक साम्य-स्थापना की चेष्टा की है। मैं समझता हूँ कि कवि लोग यदि इन बातों की ओर ध्यान देते तो वे राष्ट्र-निर्माण में हमारे नेताओं को बराबर योग दे सकते थे।"

२

श्री रामनरेश त्रिपाठी

हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ कवि, कथाकार और नाटककार सिनेमा के आकर्षण से बम्बई पहुँच गए हैं। उनसे मिलकर उनके जीवन और साहित्य के सम्बन्ध में सही-सही दृष्टिकोण का पता लगाना युक्ति-संगत है, यह सोचकर मैं बम्बई गया। अस्तंगत हिन्दी-ज्ञान-मंदिर लिमिटेड के तत्कालीन मैनेजिंग डायरेक्टर और बम्बई-हिन्दी-विद्यापीठ के संस्थापक-संचालक भाई भानुकुमार जैन की सहायता से बम्बई-स्थित हिन्दी-कलाकारों की सूची बनाते समय पता चला कि 'कविता-कौमुदी' के यशस्वी सम्पादक और 'पथिक', 'स्वप्न', तथा 'मिलन' आदि खण्डकाव्यों के ख्यातनामा कवि पं० रामनरेश त्रिपाठी भी बम्बई में हैं और वे सेठ श्रीगोपाल नेवटिया के यहाँ ठहरे हैं। मैंने यह सोचकर कि पहले ऐसे व्यक्तियों का 'इण्टरव्यू' लेना अधिक अच्छा है जो बम्बई में नहीं रहते, त्रिपाठीजी से मिलने का निश्चय किया। फोन द्वारा समय निश्चित हो गया और एक दिन प्रातःकाल ८ बजे परेल-स्थित हिन्द-साइकिल्स-कम्पनी के दफ्तर में जा पहुँचा। यही स्थान है, जहाँ सेठ श्रीगोपाल नेवटिया रहते हैं।

जब मैं हिन्द-साइकिल्स के ड्राइंग रूम में बैठा हुआ था तब

त्रिपाठीजी स्नान-गृह में थे। ड्राइंग रूम अत्यन्त भव्य था। एक मेज पर दुबले-पतले सज्जन एक महिला के साथ कुछ हिसाब-किताब कर रहे थे। मैंने समझा, शायद गृह-देवी किसी कर्मचारी से हिसाब समझ रही हैं। बातचीत मारवाड़ी भाषा में हो रही थी, इससे ऐसा भ्रम और भी हुआ। मैं उनकी ओर से उदासीन होकर त्रिपाठीजी के आने की बाट जोहने लगा। थोड़ी देर में त्रिपाठीजी बाहर आये, परस्पर परिचय हुआ। त्रिपाठीजी को और मुझे स्वतंत्र वार्तालाप का अवकाश देने के लिए जब वह सज्जन उठने लगे तो त्रिपाठीजी बोले—"यही सेठ श्रीगोपाल नेवटिया हैं, और यह इनकी पत्नी हैं। मैं दिल्ली था। वहाँ से ये हवाई जहाज में इधर आ रहे थे। मुझसे भी आग्रह किया। कई वर्ष से इधर आया भी न था। हवाई जहाज की सैर के लोभ से चला आया।"

यह सुनकर मुझे आश्चर्य यदि हुआ तो त्रिपाठीजी के हवाई जहाज से बम्बई आने पर नहीं; वरन् आश्चर्य हुआ कई मिलों के संचालक योरप के अनेक देशों में घूमे हुए मारवाड़ी सेठ श्री-गोपाल नेवटिया और उनकी पत्नी की सादगी पर। सेठ श्रीगोपाल नेवटिया के सम्बन्ध में की गई मेरी कल्पना का महल क्षण-भर में ही बारूद से उड़ गया।

चाय पीने के बाद कुछ देर तक इधर-उधर की बातें हुईं। उस-के बाद मैंने पूछा—"आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उसने आपके कलाकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई?"

त्रिपाठीजी बोले—"मैं तो एक किसान का लड़का हूँ। उन्नीस वर्ष की आयु तक मैंने जौनपुर और फैजाबाद—दो ही शहर देखे थे। मेरा गाँव आस-पास के शहरों से कम-से-कम ३० मील की दूरी पर था। इससे वर्तमान सभ्यता की कोई किरण शायद ही

वहाँ पहुँची हो। मेरे जीवन पर मेरे पिताजी का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह रामायण के बड़े प्रेमी थे। और, मुझे याद आता है कि सबेरे चार बजे वह मुझे माँ की गोद से उठवा मँगाते थे और रामायण की चौपाइयाँ रटाते थे। मुझे यह अच्छा नहीं लगता था। लेकिन पिता के इस अप्रिय प्यार का लाभ यह हुआ कि आज तक मैं रोज चार बजे उठता हूँ, चाहे तीन बजे ही सोऊँ; और उससे भी विलक्षण बात यह है कि 'गंगा-लहरी' का एक श्लोक जो उन्होंने गलत याद करा दिया था—आज भी एक बार उस श्लोक को गलत बोलकर दुबारा शुद्ध करना पड़ता है। इस प्रकार मेरा जीवन-काल जैसा किसान के घर में बीतना चाहिए, वैसा ही बीता। जंगल, खेत आदि का प्रभाव जीवन पर पड़ा ही। जब मैं अपर-प्राइमरी में पढ़ता था तब यह एक दोहा मैंने याद कर लिया था—

'तुलसी कर पर कर धरौ, कर तर कर न धरौ।
जा दिन कर तर कर धरौ, ता दिन मौत खरौ॥'

उन दिनों मैं 'खरौ' का अर्थ 'खड़ौ' समझता था। इस दोहे का प्रभाव मेरे जीवन पर बहुत गहरा पड़ा है और आज तक है। हिन्दी के अनेक साहित्यिक इस भ्रम में हैं कि मैंने अपने धनी मित्रों से लाभ उठाया होगा; पर इस दोहे ने मुझे इस लाभ से वंचित रखा है। उस समय एक पुस्तक और पढ़ाई जाती थी। उसका नाम था—'नीति-तरंगिणी'। उसका एक श्लोक मुझे अब तक कंठस्थ है—

'प्रतिष्ठा शूकरीविष्ठा गौरवं घोर रौरवम्।
मानं चैव सुरा-पानं त्रयं त्यक्त्वा सुखी भव॥'

यह किसी ऋषि ने अपने उस शिष्य से कहा था, जिसने सुखी होने का उपाय पूछा था। इसका प्रभाव भी मेरे जीवन पर रहा। वैसे मान मुझे बहुत मिला है, पर उसके लिए चेष्टा मैंने नहीं

की। न किसी से लेख लिखाये और न अपने मुँह से अपनी प्रशंसा की।"

इतना कहते-कहते वह कुछ गम्भीर-से हो गए। मैंने अनुभव किया कि त्रिपाठीजी के विषय में जो प्रवाद फैलाये गए है, उनकी असत्यता के कारण ही उन्होंने ऐसा कहा है। मैंने अधिक बात न बढ़ाकर दूसरा प्रश्न किया। "आपका साहित्य-सृजन कब और कैसे आरम्भ हुआ और उसके लिए आपको प्रेरणा कहाँ से मिली?"

उन्होंने बताया—"गाँव के स्कूल में पढ़ते समय ही मैं कविता लिखने लगा था। उन दिनों मेरी उम्र तेरह वर्ष की थी। उन दिनों 'कवीन्द्र-वाटिका', 'रसिक-रहस्य' आदि मासिक-पत्र गाँव के अध्यापक के पास आया करते थे। वह स्वयं भी कविता करते थे। उन मासिक-पत्रों से मुझे कविता का रस मिलने लगा। मुझे याद आता है कि उस समय की रीडर 'हिन्दी-शिक्षावली' के चौथे भाग के अन्तिम पृष्ठ पर मैंने एक समस्या की पूर्ति कर दी थी। इस समय मुझे उसकी समस्या ही याद है, जो यों थी—'पेटी न दिखाओ कोऊ पेट मारि मरिहै।' तब मैं 'पेटी' तथा 'पेट मारना' का अर्थ नहीं समझता था। उस समस्या-पूर्ति पर अध्यापक ने मुझे पीटा भी खूब था। उसी समय अलीगढ़ से निकलने वाले 'शिक्षा-प्रभाकर' में एक लेख भी मैंने लिखा था, जिसकी खूब प्रशंसा हुई थी और उस पर डिप्टी-इन्स्पेक्टर ने मुझे इनाम भी दिया था। बीस वर्ष की अवस्था में मैं कलकत्ता गया। वहाँ पर मेरा साथ एक पंजाबी सज्जन से हुआ। उनका नाम टेकचन्द आर्य था। वह कलकत्ता-आर्यसमाज के प्रधान थे। बाबू राधामोहन गोकुलजी, जो उन दिनों 'सत्य सनातन' पत्र निकालते थे, कलकत्ता के दूसरे व्यक्ति थे जिनसे मेरा परिचय हुआ। उनके यहाँ रोज शाम को जाकर मैं मासिक, साप्ताहिक आदि पत्र पढ़ा करता था। एक प्रकार से कलकत्ता ही

मेरी साहित्यिक परिधि के विस्तार का कारण हुआ। वहीं मेरा परिचय संस्थाओं से हुआ और मुझे दूर-दूर तक प्रकाश दिखाई देने लगा। वहीं मुझे संग्रहणी हुई। मेरे माता-पिता मुझे लिवाने कलकत्ता गए। मुझे लौटने में लज्जा का अनुभव हुआ। माता तो बिना कुछ कहे रोकर घर लौट गई, लेकिन पिता का दर्प जागा और उन्होंने कहा—'अमल हो तो घर वापस न आना।' मुझे यह वाक्य तीर की तरह लगा। यही कारण है, मुझे जब डॉक्टरों ने यह कह दिया कि तुम पन्द्रह दिन से अधिक जिन्दा न रहोगे, तब भी मैं घर न जाकर राजस्थान जा पहुँचा—एक राजस्थानी सज्जन का पत्र लेकर। फतहपुर (सीकर) में पहुँचने पर मेरी संग्रहणी दूर हुई। इसके बाद मैंने वहाँ एक पुस्तकालय खोला। ब्राह्मण मेरे विरोधी हो गए और जब मैं रास्ते में जाता होता तो वे कहते—'देखो, चाण्डाल जा रहा है।' इतना होने पर भी मैं वहाँ पाँच वर्ष तक रहा। वहाँ रहकर मैंने ५२०० पुस्तकें पढ़ीं, जिनमें ३००) रुपये तक का ऋग्वेद-भाष्य भी सम्मिलित है। उस समय मेरी उम्र २१ वर्ष की थी। वही मेरी साहित्यिक जमा-पूँजी है। वहीं मैंने पहले-पहल 'हिन्दी-महाभारत' लिखा, जो 'हिन्दी-प्रेस' प्रयाग से छपा। उसकी भाषा इतनी पसन्द की गई कि वह ऋषि-कुल-ब्रह्मचर्याश्रम के कोर्स में रखा गया था। वहीं मैंने यह प्रार्थना लिखी थी, जो शायद सबसे अधिक प्रचलित प्रार्थना है—

'हे प्रभो, आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिए।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए॥
लीजिए हमको शरण में, हम सदाचारी बनें।
ब्रह्मचारी, धर्म-रक्षक, वीर-व्रतधारी बनें'॥"

यह प्रार्थना मुझे भी सबसे अधिक प्रिय रही है; क्योंकि केवल चार पंक्तियों में इसमें आत्म-निवेदन की पराकाष्ठा हो गई है। लेकिन इससे पहले मुझे यह पता भी न था कि यह त्रिपाठीजी

की ही लिखी है। मुझे आश्चर्य होना स्वाभाविक था। मैं इस बात पर कुछ क्षण आश्चर्य-चकित बैठा रहा। तभी त्रिपाठीजी ने कहा—"इस सम्बन्ध में एक बात और भी उल्लेखनीय है। वह यह है कि मैंने हिन्दी 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' के एक-मात्र कर्ण-धार श्री रामनारायण मिश्र की प्रेरणा से सीखी। वह यदि न मिलते तो मैं या तो मुन्शी होता या अहलमद या मुख्तारे-आम !"

मैंने पूछा—"वह कैसे ?"

"तब मैं सात वर्ष का हूँगा। मिश्रजी स्कूलों के इन्स्पेक्टर थे। वह हमारे ही यहाँ ठहरे थे। मुझसे जब उन्होंने पढ़ने की बात पूछी और मैंने उर्दू का जिक्र किया तो वह बड़े रुष्ट हुए और मेरे पिताजी को मुझे हिन्दी पढ़ाने की सलाह दी। तभी से मैं हिन्दी पढ़ने लगा।"

मैंने उनसे पूछा—"वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिनका आपके ऊपर प्रभाव पड़ा है ?"

उन्होंने कहा—"सबसे पहला प्रभाव तो मेरे ऊपर बंगला-साहित्य का पड़ा। उसमें भी 'बंकिम' मुझे सर्वाधिक प्रिय लगते हैं। तब 'रवीन्द्र' का भी उदय हो रहा था। उनका प्रभाव भी मेरे ऊपर है। 'शरत्' के प्रभाव से भी मैं इन्कार नहीं कर सकता। शरत् और बंकिम में कला की दृष्टि से शरत् श्रेष्ठ हैं ; परन्तु बंकिम का स्थान विस्तृत दृष्टिकोण के कारण शरत् से ऊँचा है। बंगला की चित्र-कला मुझे कभी पसन्द नहीं आई। मैं बंगला के चित्रों को 'आर्त्त बंगाल के चित्र' (Malarial Bengali Picture) कहा करता हूँ।"

कला की बात आते ही लगभग दस मिनट तक हम लोगों में कला की परिभाषा पर विचार-विनिमय होता रहा। त्रिपाठीजी के विचारों का सार था—"कला का सम्बन्ध ज्ञान से है। मानसिक स्तर की ऊँचाई-नीचाई से ही कला का मापदण्ड स्थिर हो सकता

है। इसीलिए जहाँ एक वस्तु में किसी व्यक्ति को कला दीखती है, वहाँ दूसरे को उसमें नहीं। देश-काल भी उसमें सहायक होते हैं।"

इसके बाद उन्होंने प्रभाव की शृंखला की कड़ियाँ जोड़ते हुए कहा--"मेरे व्यक्तिगत जीवन पर 'यूज आफ लाइफ' (Use of Life) नामक पुस्तक का बहुत प्रभाव है। यह पुस्तक 'सर जॉन ल्यूबक' की लिखी हुई थी। मैंने सभ्य समाज के नियम इसी से सीखे। मैं आज भी उनके नियमों का पालन करता हूँ। उदाहरण के लिए, पहली मुलाकात में थोड़ा समय देना—अधिक-से-अधिक पाँच या दस मिनट, और दूसरी मुलाकात गहरी करना। मुझे कालिदास का 'मेघदूत' भी प्रिय था—कला की दृष्टि से। वर्णन की दृष्टि से वाल्मीकि मुझे भाते हैं। कालिदास की कविता निरुद्देश्य है! उन्होंने वही बात कही है, जो कवि को कहनी चाहिए। वाल्मीकि ने जनता के लाभ की बात कही हैं। तुलसी की 'रामायण' ने मेरे जीवन पर अधिक प्रभाव डाला है। इसका कारण यह है कि मुझे वही कला प्रिय है, जिससे जनता का अधिक हित हो। हिन्दी के अन्य कवियों में महाकवि नाथूराम शंकर शर्मा की कविता मुझे बहुत अच्छी लगती थी। उनकी 'शंकर-सरोज' पुस्तक मैंने पैसे से खरीदकर पढ़ी। विदेशी काव्य का प्रचार तब कम था और उन दिनों विदेशियों से घृणा भी थी। इसलिए उनका प्रभाव मेरे ऊपर नहीं पड़ा। वैसे भी कला की दृष्टि से वे फीके हैं।"

ग्यारह बज गए थे। नेवटियाजी को ऑफिस जाना था। अतः खाना साथ-साथ खाने का प्रस्ताव रखा गया। हम सबने साथ-साथ भोजन किया। भोजन की सादगी और सात्विकता से भी अधिक आकर्षक चीज मुझे लगी शिष्टाचार अथवा दिखावे का अभाव। ऐसा प्रतीत होता था कि नेवटिया जी दिखावे से स्वयं बहुत दूर हैं और वे अपने घर-बाहर के जीवन में कहीं भी उसे स्थान नहीं देते। यह बात असाधारण है,

इसलिए नहीं कि इसका अन्यत्र अभाव है, वरन् इसलिए कि नेवटियाजी जिस वर्ग के हैं उस वर्ग में अधिकांश दिखावा-ही-दिखावा है। अस्तु, नेवटियाजी ऑफिस गये और हम लोग फिर अपने काम पर जम गए। खाना हमारे विचार-विमर्श के बीच सिनेमा के 'इण्टरवैल' की भाँति था। मैंने त्रिपाठीजी से प्रश्न किया--"छायावाद, रहस्यवाद तथा प्रगतिवाद के सम्बन्ध में आपका क्या मत है ?"

वह बोले—"मेरे विचार छायावाद के अनुकूल नहीं हैं। कारण यह है कि छायावादी अपना अनुभव स्पष्टतया नहीं कह सकते, और मेरी सम्मति में जो कवि अपना अनुभव भी ठीक तरह व्यक्त नहीं कर सकता वह चोरी करके धन बाँटता है। हिन्दी में रहस्यवाद के आदि-कवि कबीर थे। उनके मुख से उनके अनुभव की बातें अनायास निकल आई हैं। उन छायावादी और रहस्यवादी कवियों से—जो स्वयं अपनी कविता का अर्थ समझाने में असमर्थ रहते हैं—पद्माकर, बोधा, देव और बिहारी ही अच्छे हैं; क्योंकि इनकी कल्पना और अनुभूति हमारी कल्पना और अनुभूति से मेल खाती हैं। इसके विपरीत, आधुनिक कवियों की कल्पना तथा अनुभव उधार लिये-से जान पड़ते हैं। सच तो यह है कि जो कविता हमारे वर्तमान जीवन की तरंगों में न दिखाई पड़े, उसे मैं कविता नहीं मानता। कबीर के अतिरिक्त अन्य प्राचीन कवियों—तुलसी, सूर आदि—ने भी रहस्यवाद पर अच्छी अनुभूतियाँ प्रकट की हैं। वे अधिकारी थे, उनका जीवन रहस्यमय था। आजकल के कवियों में इसका नितान्त अभाव है। कबीर ने कहा है—

'गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहरि गभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास 'कबीर' ॥'

ऐसी तीव्रता छायावादी कवियों में कहाँ है ?"

"तो क्या आप छायावाद और रहस्यवाद को एक ही वस्तु समझते हैं ?"

"हाँ ! अन्तर केवल इतना है कि छायावाद में प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति होती है, रहस्यवाद में वे प्रतीक गायब हो जाते हैं; रहस्यवाद में अभिव्यक्ति सीधी होती है, छायावाद की भाँति घुमा-फिराकर नहीं ।"

"और प्रगतिवाद ?"

"यह नई वस्तु है । इसके प्रचार के साथ ही मैंने साहित्य से संन्यास ले लिया । इसलिए मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कह सकता ।"

मेरा अगला प्रश्न था—"आपको सर्वाधिक सन्तोष किस कृति को लिखकर हुआ ?"

उन्होंने उत्तर दिया—"'पथिक' लिखने के बाद मुझे सर्वाधिक सन्तोष हुआ है । उन दिनों मेरे ऊपर गान्धी जी के जीवन का प्रभाव था । उसी को मैंने 'पथिक' में व्यक्त किया है । यह खड़ी बोली का सर्वप्रथम राष्ट्रीय कथात्मक खण्डकाव्य है । इसमें किसी पौराणिक या ऐतिहासिक कथा का आधार नहीं लिया गया है । इसके बाद 'स्वप्न' का नम्बर आता है । यह भी खण्डकाव्य है । कला की दृष्टि से कुछ विद्वान् 'स्वप्न' को 'पथिक' से अच्छा बताते हैं, परन्तु मुझे 'पथिक' से अधिक तुष्टि मिलती है । इसके निर्माण की भी कहानी है । जब मैं दक्षिण भारत की यात्रा को गया तो वहाँ मैंने पहाड़, जंगल, समुद्र और केलों के वन देखे । और मैं उनके सौन्दर्य से अत्यधिक प्रभावित हुआ । उस समय मेरे मन में ऐसा विचार आया कि कोई ऐसी कहानी लिखी जाय, जिसमें ये सब दृश्य गूँथे जा सकें और जो हृदय के सुखों को प्रकट कर दे । यह विचार ही 'पथिक' की रचना का मूल है । उसमें गान्धी जी का चित्र है ।"

"क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि सृजन के पूर्व, सृजन के समय और सृजन के बाद आपकी मनःस्थिति क्या होती है।"—मैंने उनसे पूछा।

कुछ क्षण मौन रहने पर वह बोले—"मेरी प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न रही हैं, इसलिए कविता की धारा उमड़ने का समय ही नहीं रहता था। यकायक जब मन में तरंग आती थी तब मैं उसे पकड़ लेता था और तब तक उसके साथ रहता था जब तक कि वह पूर्ण रूप से व्यक्त न हो जाय। इस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि मेरी प्रत्येक रचना एक ही बैठक की है। यह बात मैं छोटी कविताओं के विषय में नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि छोटी कविताएं मैंने कम लिखी हैं। यह तो बड़ी पुस्तकों की बात है। *मैंने इक्कीस दिन में 'पथिक', तेरह दिन में 'मिलन', और दो महीने में 'स्वप्न' की रचना की। 'जयंत' नाटक तो केवल पाँच ही दिन में लिखा।* पुस्तकें लिखते समय अकेला ही घूमता था, किसी के साथ नहीं। जब थक जाता था तब थकान दूर करने के लिए बच्चों के लिए कहानियाँ लिखता था। 'बाल-कथा-कहानी' के सत्रह भाग पुस्तक-प्रणयन के बीच थकान दूर करने के लिए ही लिखे गए हैं। पुस्तक की समाप्ति पर बोझ उतारने के लिए या तो सिनेमा देखता था या मित्रों से गप-शप करता था। छपने पर यह लालसा अवश्य रहती थी कि परिचित और महान् व्यक्ति मेरी कृति के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। हर्ष की बात है कि इस देश के बड़े-से-बड़े नेताओं ने मेरी कृतियों को सराहा है। उनमें सर्वश्री गांधीजी, मालवीयजी, लाला लाजपतराय, राजेन्द्र बाबू, टण्डन जी आदि सभी प्रकार के व्यक्ति हैं।"

त्रिपाठीजी ने हिन्दी में सबसे पहले ग्राम-गीतों का संग्रह किया है, यह सोचकर मैंने उनसे जानना चाहा—"उस समय, जब ग्राम-गीतों की ओर लोगों का ध्यान भी न था और उनको लोग

हेय की दृष्टि से देखते थे, आपको कैसे ग्राम-गीतों के संग्रह की प्रेरणा मिली।"

उन्होंने गम्भीर होकर कहा—"जब मैं देहात से शहर आया तो मुझ पर शहर का रंग चढ़ गया। और मैं देहात को घृणा करने लगा। इसलिए, ग्राम-गीतों के संग्रह में मेरे आंतरिक अनुराग का हाथ हो, ऐसा नहीं है। यह तो मेरे भावुक हृदय की प्रतिक्रिया का परिणाम है। सन् १६२४ में मैं इलाहाबाद से जौनपुर जा रहा था। बीच में भन्नौर स्टेशन पड़ा। वहाँ कुछ गरीब मजदूर, जिनके साथ स्त्रियाँ भी थीं, कलकत्ता जाने के लिए उसी डब्बे में आ बैठे। गाड़ी चली और स्त्रियों ने गाना शुरू किया—'रेलिया सवति मोर पिया लैके भागी।' यह सुनकर मेरे विचारों को धक्का लगा। रेल को 'सौत' का कहना अजीब लगा। यह किसकी सूझ है? क्या किसी पुरुष कवि की है? वह इन मज़दूरिनों के यहाँ कैसे पहुँच सकता है? तब यह गीत किसने बनाया? उस समय अनेक ऐसे प्रश्न उठकर मन-के-मन में ही रह गए। उसके कई महीनों के बाद एक मेले में एक गीत का टुकड़ा और सुनने को मिला—

'सावन में मैं मेंहदी बोआयहुँ, भादों में दुइ पात।
लगत कुँआर सैंया भये परदेसिया साँची मैं नयन निचोरि॥'

—यह दूसरा धक्का था, जो मुझे लगा। यह कौन है, जो ऐसे गीत बनाता है? हिन्दी, संस्कृत और उर्दू का तो कोई कवि इन स्त्रियों की पहुँच के सर्वथा बाहर की वस्तु है। तब, हो न हो, यह कोई स्त्री ही बनाती होगी। यह मैंने इस दूसरे धक्के के समय सोचा। तीसरा धक्का एक अहीर के बिरहे का लगा। वह था—

'बिरहा गावउँ बाघ का नाईं, दल बादल घहराय।
सुनि के गोरिया आँगन उठि धावै, बिरहा के सबद ओनाय।'

इन धक्कों से मेरा हृदय उस कवि की खोज करने को व्याकुल हो गया, जिसने ये सूक्ष्म भावनाएं व्यक्त की हैं। मेरे कान तभी से ग्राम-गीतों में चिपकने लगे, और १६२५ की पहली जनवरी को मैंने गाँवों की यात्रा शुरू कर दी। लगातार आठ वर्षों तक समस्त भारत में दो-तीन बार घूमा। ग्राम-गीतों का अध्ययन किया और भिन्न-भिन्न प्रान्तीय भाषाओं के बीस हजार गीत संग्रहीत किए। उस पर एक पुस्तक भी लिखी, जिसे ग्राम-गीतों की भूमिका ही कहना चाहिए। उसका दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ा, यह तो मैं नहीं जानता। परन्तु मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि ग्राम-गीतों के सामने मुझे अपनी ही कविता फीकी लगने लगी। उसके बाद मेरी प्रवृत्ति कविता लिखने की ओर न हुई, उसके मूल कारणों में एक यह भी है। मुझे ग्राम-गीतों के संग्रह और प्रकाशन में सबसे बड़ी सहायता सेठ घनश्यामदास बिड़ला ने स्वेच्छा से दी। इसके सिवा एक सात्विक दान भी मिला। भेजने वाले का नाम आज तक मैं नहीं जान सका; किन्तु इतना तो मैं अवश्य ही कह सकता हूँ कि वह महानुभाव दिल्ली के थे, क्योंकि लिफाफे पर दिल्ली की मुहर थी। दाता ने लिखा था--'मेरी स्त्री ग्राम-गीतों से बड़ी प्रभावित हुई है। उसकी प्रेरणा से ५००) रुपये आपके स्वास्थ्य के लिए भेजता हूँ। मेरा नाम जानने की चेष्टा न कीजिएगा, क्योंकि लिफाफे पर गलत नाम लिखा है'।"

मैं गुप्त दानी सज्जन की गुण-ग्राहकता और साहित्य-प्रेम पर आश्चर्य कर रहा था और त्रिपाठीजी कह रहे थे--"मैं ग्राम-गीतों को स्वाभाविक कविता मानता हूँ। वे सीधे हृदय से निकलते हैं, उनमें मस्तिष्क का मिश्रण बिलकुल नहीं होता। उनका प्रभाव भी सीधा हृदय पर पड़ता है। आजकल की कविता में मस्तिष्क अधिक, हृदय कम रहता है; इसलिए उसका प्रभाव मस्तिष्क

पर अधिक पड़ता है, हृदय पर कम। मैं समझता हूँ कि वर्तमान कवि ग्राम-गीतों की इस विशेषता का अनुसरण करेंगे तो उनकी कविता भी लोकप्रिय होगी और उनसे साहित्य का भी हित होगा। कारण, जिन पंक्तियों में कवि खड़ा दिखाई दे वह कविता है, और जिनमें वह न हो वह पद्य है। सुना है कि विदेशों में लोक-साहित्य का बहुत बड़ा प्रभाव सभ्य समाज और साहित्य पर पड़ा है। यहाँ भी पड़ना चाहिए।"

"आजकल ग्राम-गीतों के संग्रह पर काफी जोर दिया जा रहा और कई लोग इस दिशा में कार्य कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं? यदि कोई व्यक्ति ग्राम-गीत-संग्रह करना चाहे तो उसे क्या तैयारी करनी चाहिए?"—मैंने पूछा।

उन्होंने बताया—"गत बीस वर्षों में कुल चार-पाँच संग्रहकार निकले हैं जब कि हर जिले से एक-एक निकलना चाहिए था। यह कुछ प्रगति नहीं है। लेकिन फिर भी सन्तोष का विषय है कि इस ओर ध्यान दिया जा रहा है। जिन महानुभावों ने ग्राम-गीत-संग्रहीत किये हैं उनमें मुझे स्व० श्री सूर्यकरण पारीक का स्वाभाविक विश्लेषण पसन्द है और श्री देवेन्द्र सत्यार्थी की व्यक्त करने की कला। वैसे सबका अपना-अपना ढंग उनके लिए ठीक है ग्राम-गीत-संग्रह करने वाले को भूख-प्यास और सुख-दुःख सहने की शक्ति अर्जित करनी चाहिए और छूत-छात के बन्धनों से परे होना चाहिए। एक बार मुझे कश्मीरी गीतों के संग्रह के सिलसिले में कश्मीर जाना पड़ा। वहाँ मैं छः महीने एक चमार के घर रहा। उन दिनों लाला लाजपतराय भी स्वास्थ्य-सुधार के लिए वहाँ गए हुए थे। उन्हें चमारों के गीत बहुत पसन्द थे। वह मुझे अक्सर बुलाकर उनके गीत सुनते थे। वस्तुतः नीच जातियों के पास ही सच्चे ग्राम-गीत हैं। वे ही प्राचीन भारत की संस्कृति की विशेषता को अपने भीतर सँजोये हुए हैं।"

विषय लम्बा था और चर्चा बेहद गम्भीर होती जा रही थी, इसलिए मैंने विषय बदलकर उनसे प्रश्न किया—"क्या आपकी दृष्टि में साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है ?"

"अवश्य, जनता अपना हित करने वाले साहित्यकार को कभी भूखों नहीं मरने देगी। मेरा तो विश्वास है कि लेखक यदि स्वयं लक्ष्मी का मार्ग रोककर खड़ा न हो जायगा तो लक्ष्मी उसके घर आए बिना न रहेगी।"

"इतनी लम्बी साहित्य-साधना में क्या कभी आपका जी भी ऊबा है ? यदि हाँ, तो उसके क्या कारण रहे हैं ?" मैंने फिर प्रश्न किया।

उन्होंने नकारात्मक स्वर में कहा—"मेरा तो जी कभी ऊबा नहीं, क्योंकि मुझे सम्मान और प्रोत्साहन बराबर मिला। मेरी सभी पुस्तकों का आदर हुआ और महान्-से-महान् व्यक्तियों ने उन्हें सराहा। किसी कवि या लेखक को ऊँचा उठाने के लिए यह सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मैंने जो-कुछ लिखा, सहज अन्तः प्रेरणा से लिखा है। पैसे कमाना मेरा ध्येय कभी नहीं रहा। यदि यह ध्येय होता तो मैं पचास वर्ष की उम्र में संन्यास न लेता। आपको शायद पता न होगा कि 'हिन्दी-मन्दिर' छोड़ते समय मेरी आय ७००)–८००) मासिक थी। उसे मैंने छोड़ा ग्राम्य-जीवन व्यतीत करने के लिए। वैसे पैसा परिश्रम का पुत्र है; वह जा कहाँ सकता है ? मेरी भी सदा परिश्रम करने की आदत रही है। अपना क्षण-क्षण मैंने साहित्य के लिए लगाया है। आपको शायद यह जानकर आश्चर्य होगा कि तुलसीदास की रामायण की टीका मैंने रेल में की थी। जब कभी बाहर जाता था, सादे कागज पर चौपाइयाँ चिपकवा लेता था और पचास पन्ने साथ ले जाता था। जी ऊबने पर पेंसिल उठाकर लिखने लग जाता था। लौटने पर पचास पृष्ठ पूरे कर देता था। घर पर लेखक से स्याही से

लिखवा लेता था। इस परिश्रम के कारण साहित्य से जी ऊबने का प्रश्न ही नहीं उठा।"

मैंने फिर विषय बदला और उनसे पूछा—"आप कवि और लेखक थे और यों जीविका भी चला सकते थे, तो आप प्रकाशक क्यों बने?"

उन्होंने उत्तर दिया—"जीविका के लिए मुझे नौकरी करने से घृणा थी। दूसरी बात यह थी कि राजपूताना में, व्यापारियों के बीच में रहने से मुझ पर यह छाप पड़ी कि जीविका के लिए व्यापार ही करना चाहिए। मैं काम की खोज में प्रयाग आया। इण्डियन प्रेस के स्वामी बाबू चिन्तामणि घोष से मिला। उन्होंने मुझे पुस्तकों का व्यवसाय करने की सलाह दी। इस प्रकार मैं प्रकाशक बना। इसमें मुझे स्वतंत्रता भी थी और मैं राष्ट्रीय कार्य भी कर सकता था। प्रयाग में मुझे बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन ने बड़ा प्रोत्साहन दिया; वैसे मैं होमरूल-लीग के मेम्बरों में भी था। इसमें सर्वश्री मोतीलाल नेहरू, लाजपतराय, गांधीजी, मालवीयजी, लोकमान्य तिलक-जैसे व्यक्ति थे। १६१८ में सम्मेलन का प्रचार-मंत्री भी मैं ही था। इन नेताओं के सम्पर्क से मैं अपयश से डरने लगा। ये सब परिश्रमी थे। इनके सहयोग से मुझे स्वतंत्र श्रम की आदत पड़ गई और मैंने प्रकाशन के कार्य में काफी श्रम किया। अधिकतर अपनी लिखी पुस्तकें ही प्रकाशित कीं। इसके कारण किसी अन्य लेखक से कभी कोई संघर्ष भी नहीं हुआ।"

"हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा?"—मैंने अगला प्रश्न किया।

उन्होंने दृढ़ता से कहा—"भविष्य तो अत्यन्त उज्ज्वल है। लेकिन हमारे लेखकों में स्वाध्याय की कमी है। एक सुप्रसिद्ध लेखक से यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन्होंने पूरा 'रामचरित-मानस' भी नहीं पढ़ा था। बाबू सम्पूर्णानन्द के शब्दों में आवश्यकता इस

बात की है कि हम संस्कृत-साहित्य से अपनी प्रेरणा लें, न कि अंग्रेजी से। तुलसी ने भी तो संस्कृत से ही सामग्री लेकर अपना साहित्य रचा था। इसके अतिरिक्त भाषा में बड़ी अराजकता है। हम स्त्रियों का घूँघट हटाने की कोशिश कर रहे हैं; परन्तु अपनी भाषा को ऐसा घूँघट पहना रहे हैं, जो कभी न खुलेगा। मेरे विचार में भाषा इतनी सरल होनो चाहिए कि वह अधिक-से-अधिक लोगों द्वारा समझी जा सके। इस दृष्टि से उर्दू के कवि और लेखक बाजी मारे ले जा रहे हैं। हिन्दी वाले गुमराह हैं। मेरा खयाल है कि एक दिन हिन्दी वाले उनके आगे न चलकर पीछे चलेंगे। वैसे अंग्रेजी पढ़े-लिखे इस गाड़ी को जल्दी खींच ले जायंगे। उनका स्वागत होना चाहिए। हमारी अपेक्षा उनका दृष्टिकोण और भाषा परिष्कृत है। वे हर क्षेत्र में काम कर रहे हैं। उनकी जीविका का प्रबन्ध होना चाहिए। लेकिन नये लेखकों को प्राचीन साहित्य न छोड़ना चाहिए। उसका गंभीर अध्ययन होने से वे देश को नवीन दृष्टि के साथ प्राचीन संस्कृति के दर्शन करा सकेंगे।"

त्रिपाठीजी सन् '४१ से साहित्य से संन्यास ले चुके हैं। एक जिन्दादिल और परिश्रमी साहित्यकार साहित्य से संन्यास ले, यह आश्चर्य की बात है; क्योंकि साहित्य से संन्यास लिया ही नहीं जा सकता। वह तो साहित्यकार की आत्मा की वस्तु बन जाता है। इसलिए मैंने उनसे पूछा—"आपने साहित्य से संन्यास ले लिया है! क्या इससे आप प्रसन्न हैं? यदि नहीं, तो आप भविष्य में क्या करना चाहते हैं?"

बड़े स्वाभाविक ढंग से उन्होंने कहा—"संन्यास मैंने ले तो अवश्य लिया है, पर मेरी हालत उस दीवाने की-सी है, जिसके विषय में किसी शायर ने कहा है—

'घर में जी लगता नहीं, सहरा से घबराता है दिल।
फिर कहाँ ले जाके रक्खें, ऐसे दीवाने को हम॥'

लेकिन तब भी अब मैं कुछ गंभीर कार्य नहीं करना चाहता। इतना अवश्य करना है कि युक्तप्रान्त के अड़तालीस जिलों में एक ही डिजाइन के तुलसी-सत्संग-भवन बनवाने हैं, जिनमें सप्ताह में एक दिन तुलसी-ग्रन्थों की चर्चा या अन्य साहित्यिक व्याख्यान हुआ करें। उसमें एक कमरा 'हिन्दी-परिषद्' या प्रचार का भी रहे। वर्ष में एक बार सारे सूबे के चुने हुए प्रतिनिधियों का साहित्यिक समारोह हुआ करे। यदि उत्तर प्रदेश में यह काम पूरा हो गया तो बिहार, मध्य-प्रान्त और पश्चिमी प्रान्तों में—जहाँ तुलसी के प्रति प्रेम है--ऐसे सत्संग-भवन बनवाने की कोशिश करूँगा। यह सब कार्य चन्दे से होगा। स्थानीय-समिति द्वारा ही वही चन्दा एकत्र होगा। उसी को सारा बोझ सौंपा जायगा। उसमें समस्त धार्मिक पुस्तकें रहेंगी और पठन-पाठन की सुविधा भी रहेगी। अपने अन्तिम दिनों में यही कार्य करने की इच्छा है। इसके अतिरिक्त, यदि हो सका तो, ग्राम-गीतों का सम्पादन अभी और पूरा करना है।"

इतना कहकर वह चुप हो गए। चार बज चुके थे। उन्हें भी कहीं जाना था और मुझे भी अब कुछ पूछना बाकी न था। हम लोगों ने चाय पी और साथ-साथ शहर को रवाना हुए।

३

श्री सुदर्शन

बम्बई में जीवन अत्यन्त व्यस्त है। वहाँ पर यदि आप किसी आदमी से मिलना चाहें और जो समय निश्चित हुआ है, उस पर न पहुँच सकें तो समझ लीजिए कि आपका काम नहीं बन सकता। एक भी ट्रेन छूट गई तो कम-से-कम आध घण्टे का फर्क पड़ जाता है। मेरी घड़ी ने जब मुझे धोखा दे दिया और मैं ८ बजे चरनी रोड स्टेशन पर पहुँचा तो मन में सोचा कि अब सुदर्शन जी से भेंट न होगी; क्योंकि मैंने ८ बजे उनके घर पहुँचने का निश्चय किया था। लेकिन घर से निकल पड़ा था, इसलिए गाड़ी पकड़-कर पौने नौ बजे माहीम में सुदर्शन जी के निवास-स्थान 'सिल-वरटन' जा पहुँचा।

तीन-चार मिनट तक मैं चुपचाप बैठा रहा। मन में देर से आने के कारण लज्जित था। घड़ी का कारण बताकर जब मैं सफाई देने लगा तो वे बोले--"आपका इन्तजार कर रहा था। सुबह जाना तो कहीं न था, फिर भी दिये हुए समय पर मुलाकात न होने से मुझे भी बेचैनी थी। लेकिन अब आप आ ही गए हैं; कोई बात नहीं है। बम्बई में ऐसा होना असम्भव भी नहीं है।"

यह कहकर उन्होंने अन्य साहित्यिकों से हुई मेरी मुलाकातों के सम्बन्ध में पूछा। मैंने सबके नाम बताये। एक तो वैसे ही

मुझे देर हो गई थी, दूसरे इधर-उधर की बातों में हम बहे जा रहे थे। यह देखकर मैंने विचार किया कि अब अपना काम शुरू करना चाहिए। इस विचार का आना था कि मैंने उनसे पूछा—"आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके कलाकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई ?"

सुदर्शन जी बिना झिझक और संकोच के कहने लगे—"बचपन मेरा गरीबी में बीता है। पिता जी मामूली आदमी थे। पढ़ाई के दौरान में मैं ट्यूशनें करके काम चलाता था।" इतना कहकर वे कुछ रुककर बोले—"मैं एक घटना अपने जीवन के सम्बन्ध में सुनाता हूँ; उससे आपको मेरी परिस्थिति का ज्ञान हो जायगा।"

मेरी स्वीकृति-सूचक मुद्रा देखकर उन्होंने कहना आरम्भ किया—"मैं छटे दर्जे में था। उस समय आर्यकुमार-सभा का सेक्रेटरी था। उत्साह की कमी न थी, खूब काम करता था। बड़ी आर्य-समाज में भी जाता था। उसके सेक्रेटरी एक मुन्शी थे। मैं अदालती आदमियों को बेईमान समझता था। एक दिन उनकी बैठक में मैंने उनके सम्बन्ध में ऐसी बातें कह दीं जो ठीक तो थीं; पर कहनी न चाहिएं थीं। उस आदमी को मेरी बात से बड़ा दुःख हुआ और वह मेरे घर आकर बोला, 'तुम कहते हो मैं बेईमान हूँ, आखिर कोई-न-कोई काम करना ही होता है। अपने बीवी-बच्चों का पेट तो भरना है; फिर अदालत की नौकरी क्यों बुरी है ?' उसकी इस बात को सुनकर मैंने कहा, 'धर्म के मामले में तो बीवी-बच्चों का खयाल नहीं किया जा सकता, उस समय तो सब-कुछ कुरबान कर देना पड़ता है।' मेरा यह उत्तर सुनकर वह चला गया। उस समय मैं यह भूल गया कि मुझसे उम्र में बड़ा एक आदमी मेरे घर आया है और मुझे उसका सत्कार करना है। यहाँ तक कि मैंने उसे बैठने तक के लिए भी नहीं कहा।

उसी समय की बात है। उर्दू का एक अखबार था—'मार्तण्ड'। सम्पादक थे शिवरत्नलाल वर्मन। वह अखबार उस सेक्रेटरी के पास आता था। डाकखाने में उसके भीतर मैंने उसका नाम देखा तो मुझे भी लगा कि मेरा भी नाम छपना चाहिए। मैंने बड़ी मुश्किल से उसके लिए आठ आने जुटाकर भेजे। अखबार तो आया, पर उसमें नाम न था। यह तब न जानता था कि ग्राहकों की लिस्ट जब तैयार होती है तभी नाम छपता है। बड़ा क्रोध आया। और वह तब तक आता रहा जब तक मेरा नाम भी उसकी ग्राहक-सूची में न आ गया। जब अपना नाम छपा हुआ देखा तो मैं गर्व से फूल गया और मैं उसको दिखाने गया। उसने कहा—'अरे, यह क्या तारीफ की बात है। इसमें तो कोई भी आठ आने वाला अपना नाम छपा सकता है। कोई अपनी चीज लिखो तब तो कुछ बात भी हो।'

मैं चुपचाप चला आया। आकर 'केसर की क्यारी' के नाम से कुछ चुटकले संग्रह करके 'मार्तण्ड' को भेज दिए। वे छप भी गए और उनके साथ मेरा नाम भी था। इसे जब मैंने उस सेक्रेटरी को दिखाया तो वह बोला–'इसमें तुम्हारा क्या है? दूसरों की चीज तुमने संग्रह कर दी है। अपनी अक्ल तो इसमें है ही नहीं।' इसके बाद मैंने 'कुछ दिलचस्प कहानियाँ और उनसे सबक' शीर्षक से एक लेख लिखा। इसको भी उसने पसन्द न किया। तब आखिरी बार मैंने 'कुछ कर लो' नामक लेख लिखा। इस लेख में जीवन में कुछ काम कर जाने की प्रेरणा थी। इस लेख को 'इन्तिखाब लाजवाब' में छपाया था तब मैं दस या साढ़े दस वर्ष का था। इसका मुझे १।।) पारिश्रमिक भी मिला। यह लेख इतना अच्छा था कि मेरे हेडमास्टर ने मैट्रिक के लड़कों के बीच मुझे बुलाकर इसे पढ़ा था और पढ़ते-पढ़ते बुरी तरह रोये थे। उस समय मुझे लगा कि मेरे भीतर वह शक्ति है कि मैं किसी को

रुला दूँ और किसी को हँसा दूँ। मुझे अपनी कलम पर भरोसा हो गया। इस लेख को जब मैंने उसे दिखाया तो वह मान गया और उसने कहा—'अब मैं तुमको लेखक मान सकता हूँ'।"

"तब तो आपकी साहित्य-सृजन की प्रेरणा का मूल स्रोत इन्हीं सज्जन को कहा जा सकता है," मैंने कहा।

"अवश्य", उन्होंने कहा, "उसके कारण ही मैं लेखक बना। लेकिन आरम्भ से ही मैंने इस बात का ध्यान रखा है कि मैं ऐसी कोई चीज न लिखूँ, जिससे कि लोगों की रुचि विकृत हो। उच्च विचार जागृत हों और लोगों को प्रेरणा मिले, यही मेरा लक्ष्य है। बुरी चीज का वर्णन कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि बुराई अपनी ओर खींचती है।"

जब वे यह कह रहे थे तब मैंने उनसे पूछा, "ऐसे विश्वास के साथ तो आपको आरम्भ में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा होगा; क्योंकि एक गरीब स्वावलम्बी लेखक के लिए ऐसा आदर्श बड़ा कष्टकर होता है।"

इस प्रश्न को सुनकर उनकी आँखें गर्व से चमक उठीं और वे बोले, "मैंने गरीबी को कभी लानत नहीं समझा। उसके ऊपर अपने आदर्श को महत्ता दी है। इसके लिए अपनी नौकरी छोड़ने में कभी आनाकानी नहीं की। जब मैं आर्य-समाज के उपदेशक के पद पर काम करता था, तब एक वकील के यहाँ खाना खाने गया था। उसने मुझे लक्ष्य करके उपदेशकों की बुराई की। मैंने तुर्क-ब-तुर्क वकीलों की बुराई की। उसने नौकरी के सम्बन्ध में धमकी दी। मैंने फौरन इस्तीफा पेश कर दिया। महात्मा हंसराज ने जब सुना तो मुझे बुलाया। उन दिनों मेरे व्याख्यानों की बड़ी धाक रहती थी। उन्होंने १००) मासिक पर मुझे 'आर्य गजट' का सम्पादक बना दिया। तब मैं १८ वर्ष का था। मैं सबसे छोटी उम्र में सम्पादक बन गया था। मुझे तो अपने

आदर्श के लिए भूखों भी मरना पड़ा है। एक बार मैंने तीन दिन का फाका किया और चौथे दिन स्टेशन से एक आदमी का ट्रंक उठाकर पहुँचाया, तब दो आने कमाए और उनसे पेट भरा। यह तब की बात है, जब मैं काफी नाम कमा चुका था और प्रतिष्ठा भी पा चुका था।"

सुदर्शन जी के ये अनुभव सुनकर और उनका स्वाभिमान देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। पर मैं चाहता न था कि वे अधिक दर्द की बातें कहें, इसलिए मैंने उनसे कहा, "कृपा करके यह बताइये कि किन-किन देशी-विदेशी लेखकों का आपके ऊपर विशेष प्रभाव पड़ा है?"

उन्होंने कहा, "मेरे ऊपर सबसे अधिक प्रभाव मोपांसा का पड़ा है। इब्सन के ड्रामे भी मुझे प्रिय रहे हैं और मैटरलिंक को भी मैंने पढ़ा है। एक और लेखक है, जिसका मैं भक्त हूँ। वह है सेनकाई विस। यह पोलिश है। इसकी Quat Vadis मास्टर पीस है। रूसी लेखक टॉल्स्टॉय की कला भी मुझे अच्छी लगती है।

देशी लेखकों में प्रेमचन्द्र का प्रभाव मुझ पर सबसे अधिक पड़ा है। उनकी कहानियाँ पढ़कर मुझे कहानी लिखने का शौक़ हुआ। उनसे कोई सबक नहीं लिया; पर हमेशा उन्हें गुरु माना। रामायण और महाभारत को भी मैंने पढ़ा है। भाषा की दृष्टि से मैं तुलसीदास का महत्त्व मानता हूँ, और उपनिषदों को इसलिए पढ़ता हूँ कि उनमें साहित्यिक खूबियाँ दिखाई देती हैं। यही हाल बाइबिल का भी है। उसका मैंने गहरा अध्ययन किया है, उसमें भी साहित्यिक खूबियाँ बहुत हैं। मैंने १९१४ में बाईबल का एक इम्तहान भी पास किया था, जिसमें मैं भारत-भर में सेकिण्ड रहा था। अपनी 'झरोखे' नामक पुस्तक मैंने बाइबिल की भाषा (Biblical Language) में ही लिखी है।"

मैंने आगे उनसे प्रश्न किया "आपको किस कृति को लिख-कर सर्वाधिक सन्तोष हुआ है ?''

उनका उत्तर था—"किसी कृति से मुझे संतोष नहीं हुआ। मेरी सर्वश्रेष्ठ कृति अभी आने को है।"

"सृजन के पूर्व और सृजन के बाद आपकी मनःस्थिति कैसी रहती है ?"—मैंने पूछा।

"Urge आती है," उन्होंने बताया, "और परेशानी बढ़ती है। कुछ खटपट-सी मचती है। क्या चीज है, इसे जानने की बेचैनी होती है। कुछ अच्छा नहीं लगता। लिखते समय प्रसन्नता होती है। लिखने के आठ-दस दिन बाद असन्तोष होता है।

मेरा लिखने का समय दो-ढाई बजे दिन का होता है। अक्सर घर से बाहर चला जाता हूँ। Urge आते ही एकदम लिख डालता हूँ। एक बार मैं बनारस में ठहरा था। सुबह के आठ बजे थे। नहाने जा रहा था। सामने सड़क पर एक ताँगे और साइकिल में टक्कर हो गई। एकदम प्लाट सूझा। मैं नहाने न गया। बीच से लौट आया। कमरा बन्द कर लिया। तब ९–९॥ बजे थे। लिखना शुरू किया और शाम के ५ बजे तक लिखता रहा। यह कहानी 'घोर पाप' थी। सन् १९२५ की बात है।

कहानी का शुरू करना मुश्किल होता है; मुश्किल क्या एक समस्या होती है, कैसे शुरू किया जाय ? शुरू होने पर कहानी अपने-आप चलती रहती है। खत्म होना उसका काम है। प्लाट जो सोचता हूँ, बीच में ही बदल जाता है। कई प्लाट वर्षों से दिमाग में हैं, पर उनके लिए Urge नहीं आई। फिल्म-स्टोरी छोड़कर मैंने कोई कहानी पूर्व-संयोजित (Preplanned) नहीं

लिखी। कहानी में थीम शुरू की रहती है, केवल उसका रूप बदल जाता है।"

उसके बाद मैंने एक ऐसा प्रश्न उनसे किया; जिसे एक प्रकार से नहीं करना चाहिए था, परन्तु मैंने कई व्यक्तियों से उस सम्बन्ध में सुना था और मैं चाहता था कि उसका औचित्य-अनौचित्य मुझे मालूम हो जाय। इसलिए साहस करके वह प्रश्न मैंने पूछ ही लिया। प्रश्न था—"कहते हैं कि आपको बनाने में आपकी पत्नी का बड़ा हाथ है। यह कहाँ तक ठीक है ?"

"यह सही है", उन्होंने कहा, "मेरे बनाने में उसका ही पूरा-पूरा हाथ है। वह उस जमाने की पढ़ी-लिखी औरत है, जब पंजाब में तालीम कम थी। वह अत्यन्त कष्ट-सहिष्णु है। अपनी जरूरतों के लिए उसने कभी मुझसे नहीं कहा। मैंने शादी होने से बारह साल तक उसको कोई साड़ी खरीदकर नहीं दी। तेरहवें वर्ष में उसे साड़ी दे पाया। परदे के सवाल पर जब मैं घर से निकाला गया, तब मैंने एक पैसा घर से नहीं लिया। उस समय उसने मुझसे कभी कोई ऐसी माँग न की जो मुझे तकलीफ पहुँचाती। एक हजार के जेवर की अपेक्षा सदा उसकी माँग यही रहती थी कि मेरी कोई किताब छपकर आये। उसने मुझे सब प्रकार की सुविधा दी। घर के काम-काज से तो बिलकुल मुक्ति दे दी। हाट-बाजार का काम, दर्जी से कपड़े सिलाने का काम, घर के अन्य काम—गरज यह कि सभी कामों से उसने मुझे मुक्त कर दिया। मैं अक्सर सबेरे जगकर लिखता था तो वह स्वयं भी जाग जाती थी और चरखा लेकर बैठ जाती थी। सर्दी में अंगीठी जला देती थी। मेरी हर चीज की प्रथम श्रोता भी वही होती थी। 'ई' और 'ष' की गलती मुझसे बराबर होती थी। इसे उसने ही ठीक किया और सत्य तो यह है कि मैंने हिन्दी इस-लिए सीखी कि मैं पत्नी को चिट्ठी लिख सकूँ। उसने बराबर

मुझे प्रोत्साहन दिया। यदि मेरी चीजों की कटु आलोचना हुई, तो उसने मुझसे यही कहा—तुम अपनी पसन्द की चीज लिखो, लोग यदि उसे नहीं समझते तो चिन्ता नहीं है।"

जब वे ये सब बातें कह रहे थे तब मैं उस तपस्विनी के लिए मन-ही-मन श्रद्धा-भाव से प्रणाम कर रहा था, जिसने हिन्दी के इस यशस्वी कहानीकार का निर्माण किया। मैं सबसे अधिक आश्चर्याभिभूत हुआ उसकी उस उत्साहप्रद वाणी से जिसमें उसने कलाकार को अपनी पसन्द की चीज लिखने के लिए प्रोत्साहित किया।"

"क्या साहित्य-साधना से आपका जी भी कभी ऊबा है? यदि हाँ, तो उसके कारण क्या रहे हैं?" मैंने अगला प्रश्न पूछा।

उन्होंने बताया, "मेरा जी दूसरे कामों से तो ऊबा है, पर साहित्य-साधना से कभी नहीं ऊबा। यहाँ तक कि यदि कहानी लिखने की urge हुई है, तो मैंने ऐसी-ऐसी आवश्यक फिल्म की कहानियाँ छोड़कर उस कहानी को पूरा किया है, जिनसे मुझे १०-१० हजार रुपये मिलने की उम्मीद थी।"

"तो क्या आपकी दृष्टि से साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है?"

"यदि लेखक जरूरियात ज्यादा न बढ़ाय तो जी सकता है, और वैसे भी अब तो वक्त आ गया है जब हिन्दी के लेखक की जीविका लेखन से चल सकती है!"

सुदर्शन जी भी प्रेमचन्द जी की भाँति उर्दू से हिन्दी में आये हैं, यह सोचकर मैंने जानना चाहा कि वे उर्दू से हिन्दी में क्यों आये और पूछा—"आप उर्दू के लेखक थे। वहाँ आपका नाम भी था; फिर क्या कारण है कि आप हिन्दी में आ गए?"

उन्होंने कहा, "बात यह है कि हिन्दी के मासिक अच्छे थे।

यह सोचकर मन ललचाया कि इनमें लिखो। पहले अनुवाद कराया और शुद्ध करके उसे हिन्दी-पत्रों में छपवाया। उसके बाद मैंने ही हिन्दी में लिखना शुरू कर दिया। विश्वास यह था कि आगे चलकर उर्दू लिपि न रहेगी, क्योंकि वह अवैज्ञानिक लिपि है। आर्यसमाज के प्रभाव ने भी हिन्दी की ओर मेरा ध्यान मोड़ा, क्योंकि स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार किया था। इस प्रकार मैं उर्दू से हिन्दी में आ गया और फिर यहीं का हो रहा।"

सिनेमा में सुदर्शन जी ने गीत-संवाद-लेखक के रूप में अच्छी ख्याति पाई है। 'सिकन्दर' 'पृथ्वीवल्लभ' आदि फिल्म जिन्होंने देखे हैं वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। वे बहुत दिन से सिनेमा में हैं। एक बार प्रेमचन्द जी भी सिनेमा में गए थे, परन्तु वहाँ अधिक दिन न ठहरकर लौट आए थे। मैंने सुदर्शन जी से पूछा—"क्या कारण है कि प्रेमचन्द जी सिनेमा में न ठहर सके?"

उन्होंने बड़े संयत स्वर में कहा—"मेरा खयाल यह है कि प्रेमचन्द जी ज्यादा उम्र के थे और इतने पक गए थे कि अपने को Adapt न कर सके। (वातावरण के अनुरूप न ढाल सके)। दूसरी बात यह है कि उनकी जिन्दगी में ड्रामा न था और न उनकी कला ही में ड्रामा था, जिससे वे ड्रामे के अनुकूल अपने को बना सकते। तीसरी बात यह है कि वे साधना के पक्के थे, इसलिए समझौता (Compromise) न कर सके। चौथी बात यह है कि प्रेमचन्द जी कवि न थे। शब्दों के मास्टर जरूर थे, पर खयाल की ऊँचाई उनमें न थी। उनमें (Realistic) यथार्थवादी तत्त्व अधिक थे। इसलिए वे यहाँ न जम सके।

इसके विपरीत मेरे भीतर समझौता (Compromise) करने की आदत थी, मैंने Compromise कर लिया। प्रेमचन्दजी

ने शायद ड्रामे देखे भी कम थे, जब कि मुझे जन्म देते समय मेरी माँ रामलीला देख रही थी। बचपन में मैंने रामलीला बहुत देखी थी। ड्रामे बहुत देखे थे। मुझे पैसे की प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक जरूरत थी, इसलिए मैंने Compromise कर लिया।"

यहीं उन्होंने प्रेमचन्द जी के जीवन की उस घटना का भी जिक्र किया, जो उनके जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है और जिससे उनकी स्वाभिमानी आत्मा का दर्शन होता है। वह घटना है, प्रेमचन्द जी को विश्व-कवि टैगोर द्वारा बुलाया जाना और उनका न जाना। इसमें लोग अक्सर यह समझते हैं कि प्रेमचन्द जी के पास जाने को किराया न था, इसलिए न गए; पर सुदर्शन जी ने उसका दूसरा ही कारण बताया। उन्होंने कहा, "यह गलत है कि प्रेमचन्द जी रुपये के कारण टैगोर से मिलने नहीं गए। बात दूसरी थी और काफी गम्भीर थी। वे बंगालियों की श्रेष्ठता (Superiority) को नहीं मानते थे। सन् १६३४ में जब सुभाष बोस कलकत्ता के मेयर थे, तब रामानन्द चट्टोपाध्याय ने हिन्दी को कुलियों की भाषा कहा था। उन्हें यह भी अखरता था कि हिन्दी के साहित्यिकों को प्रान्तीय भाषा वाले कोई सम्मान नहीं देते। उनका कहना था कि हिन्दी के प्रतिनिधि की हैसियत से टैगोर से मिलने जाना अनुचित है। इसलिए वे मिलने नहीं गए।"

इसके साथ ही सुदर्शन जी ने यह भी बताया कि उनका 'भाग्य-चक्र' फिल्म जब बंगला में 'धूप-छाँह' नाम से निकला तो प्रोडयूसर को बड़ी गालियाँ सुननी पड़ीं और उसके बाद कोई हिन्दी-फिल्म बंगला में अनूदित न हुई।

यह सुनकर मुझे प्रेमचन्द जी की महानता और उत्तरदायित्व का तो ज्ञान हुआ ही, साथ ही बंगला-भाषा-भाषियों की संकीर्णता पर भी दुःख हुआ। हिन्दी वालों ने अपने को वास्तव में नीचे

गिराया है, हीन-भावना उनमें बेहद है। इसे दूर करने की सख्त जरूरत है।

मैं यह सोच रहा था और सुदर्शन जी कह रहे थे, "सिनेमा में कल्पना का धनी लेखक सफल हो सकता है। उसे कवि अवश्य होना चाहिए। इसके साथ ही अपनी चीजों को रद्द (Reject) करने का भी साहस होना चाहिए, क्योंकि सिनेमा की टेकनीक की दृष्टि से नए लेखक को ट्रेण्ड होने में काफी समय लगता है। परिश्रमी होना तो बेहद जरूरी है। इसके साथ ही अभिमान और प्रतिष्ठा का मोह छोड़ देना चाहिए। भारी खयालात वाले लोगों की अपेक्षा चार आने वालों के लिए जो लिख सके वही सफल हो सकता है। भाषा गंगा-जमुनी होनी ही चाहिए। जो भी लेखक सफल हुए हैं, वे इसी प्रकार के रहे हैं। 'प्रदीप' और 'मधोक' के गीत काव्य की दृष्टि से चाहे कुछ न हों, पर उनमें देहाती गीतों का जोश और ग्रामीण धुनें हैं। भगवतीचरण वर्मा और नरेन्द्र भी सफल रहे हैं। लेकिन सफलता का पथ वही है, जो मैंने बताया है।"

इसी के साथ मैंने उनसे पूछा, "क्या इस प्रकार साहित्यकार की हानि नहीं होती? और की बात जाने दीजिए। मैं आपसे ही पूछता हूँ कि यदि आप सिनेमा में न आये होते तो आप आज कितने ऊँचे होते? इस दृष्टि से सिनेमा ने आपकी कला को हानि जरूर पहुँचाई होगी?"

"अवश्य", उन्होंने स्वीकृति-सूचक स्वर में कहा, "हानि अवश्य होती है; परन्तु ये जो मजबूरियाँ हैं, इनका कोई क्या करे? अब तो मेरा खयाल यह हो गया है कि ४० के बाद लिखना चाहिए। छोटी उम्र में चीज अच्छी नहीं बनती। सोचना, अनुभव करना, कष्ट सहना—यह सब उम्र से ताल्लुक रखता है। अब जो-कुछ मैं लिखूँगा, वह 'मनी' के लिए नहीं, क्योंकि अब मुझे भूखों मरने की जरूरत न पड़ेगी।"

"अब आप क्या लिखेंगे ?"

"कम-से-कम ६ उपन्यास लिखने का विचार है। दूसरी चीज है—बच्चों की किताबें लिखना। हिन्दी में उम्र की दृष्टि से बच्चों के लिए किताबें नहीं हैं, इस अभाव को पूरा करने की बड़ी लालसा है। मैं साधन जुटा रहा हूँ। काश्मीर में बैठकर लिखूँगा।"

"क्या आप सिनेमा में यह अनुभव नहीं करते कि आप साहित्य-जगत् से दूर हैं और क्या आपको कभी इसके सम्बन्ध में दुःख नहीं होता है ?"

"क्यों नहीं ? मैं बराबर यह अनुभव करता हूँ कि सिनेमा में व्यक्तित्व का ह्रास ही नहीं होता, वह बिक भी जाता है। यहाँ Vaniy Suffer करती है। साहित्यिक महत्त्व की रक्षा का मुझे बराबर खयाल रहता है। मगर-मच्छ, जो बराबर पानी के भीतर रहता है, दिन में एक बार रेती में लोटने आता है। साहित्यकारों को भी कभी-कभी सिनेमा से साहित्य में जाना चाहिए, यह मेरा स्पष्ट मत है ; क्योंकि बुनियाद उनकी वहीं है, उसी के बल पर वे सिनेमा में हैं और उसे खोना बुद्धिमानी नहीं है।"

"क्या आप हिन्दी-साहित्य के भविष्य के विषय में कुछ कहेंगे !"

"भविष्य उज्ज्वल है। नए लेखकों में साधना और ईमानदारी भी काफी है। आवश्यकता इस बात की है कि पुराने नयों से सहयोग करें और नये पुरानों से सीखें। नया विचार हर एक अच्छा है, पर सिर के बल चलना अच्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि जो-कुछ लिखा जाय वह जनता के समझने के लिए लिखा जाय, नहीं तो परिश्रम व्यर्थ जाता है। जैसे बीज बोने से पहले जमीन देख ली जाती है, वैसे ही साहित्य लिखने से पहले उसका लक्ष्य समझ लेना चाहिए। आधुनिक लेखकों को इसे भली-भाँति समझना है। कविता तो हिन्दी की आज उर्दू से भी नीची है।

५

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा

औसत कद, दुबला-पतला-सा शरीर, पूरी बाहों की सादा कफ वाली कमीज, धोती और चप्पल पहने जब एक प्रौढ़ व्यक्ति ने आडम्बर-हीन ढंग से बाहर आकर सामने वाली कुर्सी पर बैठने का संकेत किया तब मैं कुछ देर के लिए आश्चर्य में डूब गया। प्रयाग-विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष, हिन्दी-भाषा और साहित्य का गम्भीर तथा मननशील विद्वान् तथा भारतीय संस्कृति का सबल समर्थक और विचारक अध्यापक तनिक भी अपने बड़प्पन का भान सामने वाले व्यक्ति को न होने देगा और एक अपरिचित से बहुत दिनों के परिचित की भाँति वार्तालाप आरम्भ कर देगा, यह अप्रत्याशित-सी बात थी, और कौतूहल पैदा करने वाली भी। लेकिन मैं लाख आश्चर्य और कौतूहल में डूबा हुआ होऊँ, इस व्यक्ति की शालीनता ने मुझे शीघ्र इस बात का अनुभव करा दिया कि यहाँ ऐसे संकोच की आवश्यकता नहीं है। यह व्यक्ति भले ही अंग्रेजी वातावरण में पला हो, भले ही उसे पाश्चात्य ढंग की शिक्षा मिली हो, और भले ही वह परिस्थितियों के वश विश्वविद्यालय के एक विभाग का अध्यक्ष हो; लेकिन वास्तव में वह भारतीय संस्कारों की प्रतिमूर्ति है। उसी समय मुझे उसकी कोठी के प्रवेश-द्वार पर

लगे संगमरमर के उस टुकड़े का ध्यान आया, जिस पर हिन्दी में केवल 'धीरेन्द्र वर्मा' लिखा है। साथ ही यह भी विचार आया कि क्यों अपने नाम के आगे उसने 'एम० ए०, डी० लिट्०' या अन्य कोई वाक्यांश नहीं जोड़ा। मानो यह व्यक्ति अपने व्यक्तित्व की विशालता को ही कसौटी मानता हो। अकृत्रिम व्यवहार और विद्वत्ता की छाप वह डालने का प्रयत्न नहीं करता, मुख-मुद्रा की सहज सरलता और सुरुचिपूर्ण वार्तालाप से उसके भीतर की महानता स्वयं व्यक्त हो जाती है।

डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा से मिलकर पहला अनुभव जो हुआ, वह मैंने ऊपर लिख दिया है। अधिक बात-चीत के लिए और निकट से जानने के लिए मैंने दूसरे दिन प्रातःकाल ८ बजे का समय निश्चित किया था, इसलिए मैं उस समय छुट्टी लेकर चला आया।

मैं दूसरे दिन ठीक ८ बजे उनके यहाँ पहुँचा। उस समय वे अध्ययन-कक्ष में बैठे कुछ लिख रहे थे। मैंने उनके अध्ययन-कक्ष में देखा कि अलमारियों और बुकसैल्फों में पुस्तकें बड़े करीने से लगी हैं। मेज पर रखी फाइलें तक नियमानुसार रखी हैं। कहीं अस्त-व्यस्तता नहीं। सब स्थानों में स्वच्छता और नियमितता देखकर मुझे उनकी परिष्कृत विचार-प्रणाली का रहस्य समझ में आ गया और उस लेखक की बात भी मस्तिष्क में गूँज गई, जिसने यह लिखा है कि 'स्वच्छता और शालीनता का प्रेमी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वच्छता और शालीनता का निर्वाह करेगा।' मैं जब इन विचारों में डूबा था तभी उन्होंने अपने कार्य को समाप्त कर मुझसे कहा—"अब आप जो-कुछ-पूछना चाहें, पूछें। मैं अपने ढंग से उस सम्बन्ध में विचार प्रकट करूँगा।"

यद्यपि झिझक कल की बात-चीत से निकल गई थी तथापि

मेरे अधिकांश प्रश्न जीवन से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं, इसलिए संकोच एकदम नहीं छोड़ पाया। देर तक असमंजस में पड़े रहने के बाद आखिर मैंने उनसे प्रश्न किया—"आपका बाल्यकाल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई ?"

उन्होंने कहा—"मेरे बचपन की एक विशेषता तो यह रही है कि मैं अपने माता-पिता का एकलौता लड़का था। न तो मेरे कोई भाई था, और न बहन। इसका परिणाम यह हुआ कि माँ-बाप तथा परिवार के लोगों का ध्यान मेरे ऊपर केन्द्रित हो गया। आप जानते हैं कि ऐसी परिस्थिति में बच्चे बहुधा बिगड़ जाते हैं। मैं भी बिगड़ सकता था, यदि मेरे पिता जी ने मेरा पथ-प्रदर्शन न किया होता। उनके सादा जीवन और धार्मिक भावना ने घर का वातावरण पवित्र बना रखा था। संस्कृत और हिन्दी दोनों से उनको विशेष अनुराग था। प्राचीन संस्कृति और आधुनिक ज्ञान दोनों प्रकार की पुस्तकों से उन्हें प्रेम था। इस कारण बिगड़ने के स्थान पर मेरा जीवन प्यार-दुलार के साथ संस्कृत और सुरुचिपूर्ण बनने लगा। हिन्दी-प्रेम तो तभी से मेरे मन में अंकुरित हो गया। बचपन की याद है कि हमारे यहाँ 'सरस्वती', 'वेंकटेश्वर समाचार','माडर्न रिव्यू', 'हिन्दुस्तान-रिव्यू', 'देवनागर' (कलकत्ता) और 'कमला' (कानपुर) आदि हिन्दी तथा अंग्रेजी के पत्र आया करते थे। मैं तब ५-६ वर्ष का था। इन पत्रों से ही मैं साक्षर बना। पिताजी का नियम था कि वे रात को प्राचीन साहित्य का पारायण किया करते थे। मैं भी पिताजी के साथ बैठकर रामायण, महाभारत, और उपनिषदों का पाठ किया करता था। यों पिताजी के कारण मेरे जीवन का झुकाव धार्मिकता की ओर हो गया; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि सामयिक परिस्थितियों के प्रभाव से मैं अछूता रहा।

नहीं, उनका प्रभाव भी पड़ा। उदाहरण के लिए बंग-भंग-आन्दोलन के समय मैंने विदेशी वस्त्रों का त्याग कर दिया। तब से आज तक कभी विदेशी वस्त्र नहीं छुए। मैं ही क्या, मेरे घर में भी कोई विदेशी वस्त्र नहीं पहनता।"

"आपका साहित्य-सृजन कब और कैसे प्रारम्भ हुआ और उसके लिए प्रेरणा कहाँ से मिली ?"—मैंने पूछा।

उनका उत्तर था—"साहित्य-रचना देर से आरम्भ हुई। हाँ, अध्ययन बचपन से ही रहा। एम०ए० में संस्कृत ली थी। एपीग्राफी में विशेष योग्यता प्राप्त करके पुरातत्त्व-विभाग में जाने का मेरा विचार था क्योंकि प्राचीन भारत के गौरव की खोज में मेरा मन विशेष रमता था। लेकिन परिस्थितियों के वश होकर वैदिक संस्कृत साहित्य में एम० ए० करने के पश्चात् मुझे भाषा-विज्ञान-संबंधी खोज का कार्य प्रारम्भ करना पड़ा। इलाहाबाद के म्योर कॉलिज में मैंने शिक्षा पाई थी और वहाँ ही खोज आरम्भ की। यह १९२१ की घटना है। इन्हीं दिनों पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा से मेरा परिचय नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका द्वारा हुआ। ओझा जी पत्रिका के सम्पादक-मण्डल में थे। मेरा पहला गंभीर लेख 'मध्यदेश का विकास' था, जो 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशनार्थ मैंने भेजा था। ओझा जी ने व्यक्तिगत पत्र में उसकी विशेष प्रशंसा की और खोजपूर्ण लेखों के लिए प्रेरणा दी। फलस्वरूप मैं खोजपूर्ण लेख लिखता रहा। विद्यार्थी-जीवन में छोटे-छोटे लेख, कहानियाँ और कविताएं अवश्य लिखी थीं, जो सुदर्शनाचार्य द्वारा सम्पादित 'गृह-लक्ष्मी' में प्रकाशित हुई थीं। परन्तु पीछे खोज-सम्बन्धी कार्य में अधिक रुचि होने के कारण विद्यार्थी-जीवन की यह धारा रुक-सी गई और मैं खोज में ही रस लेने लगा।"

मैंने उन्हें बीच में ही रोककर प्रश्न किया—"तो क्या उस

प्रकार की रचनाएं खोज के कार्य में बाधक सिद्ध होती थीं ?"

"नहीं," उन्होंने कहा, "ऐसा नहीं है। बात वस्तुतः यह है कि मुझे आरम्भ में ही यह अनुभव हो गया था कि मेरा यह क्षेत्र नहीं है और दूसरे लोग मेरी अपेक्षा इस क्षेत्र में अधिक कार्य कर सकते हैं। कहानी और कविता ही की बात नहीं है, मुझे चित्र-कला और संगीत-कला से भी विशेष अनुराग रहा है। संगीत तो मैंने शास्त्रीय दृष्टि से सीखा था। आज भी मुझे वह प्रिय है, लेकिन अपनी परिस्थितियों के कारण उसमें अधिक समय नहीं दे पाता। चित्र-कला तो एक प्रकार से मेरी 'हाबी' ही रही है।"

इतना कहकर उन्होंने मेज की दराज में से एक चित्र निकालकर दिखाया। इस चित्र में दो चिड़ियाँ पास-पास बैठी हुई हैं। दोनों एक ही डाल पर हैं। डाल पानी की सतह को लगभग छूती हुई है। वे दोनों एक मछली खा रही हैं। रंगों के भरने में बड़ी सावधानी इस चित्र में बरती गई है। इसके साथ ही उन्होंने अपनी 'हिन्दी राष्ट्र' नामक पुस्तक निकाली। यह संवत् १९७८ की प्रकाशित पुस्तक है। लेखों का संकलन है। इसके ऊपर का सचित्र मुखपृष्ठ स्वयं उन्हीं के द्वारा तैयार किया गया है। इसमें हिन्दी-राष्ट्र की कल्पना एक वृद्ध तपस्वी के रूप में है और उसकी आकृति उत्तर प्रदेश के मानचित्र में बिठाई गई है। इस चित्र की व्याख्या करते समय उन्होंने कहा—"मध्यदेश की कल्पना विद्यार्थी-जीवन से मेरे हृदय में उठती रही है। भविष्य में भी लिखकर इस विषय को अधिक स्पष्ट करना है। यही मध्यदेश हमारी संस्कृति का केन्द्र रहा है। इसे हमने भुला दिया है। मैं चाहता हूँ कि हम इसे फिर याद करें और इसकी महिमा से अपने भविष्य को उज्ज्वल बनायें।"

बड़ी देर तक मैं उनकी चित्र-कला की प्रशंसा करता रहा और

उनकी कला-प्रियता पर मुग्ध होता रहा। खोज के शुष्क काम में डूबते रहने वाला और व्याकरण के नियमों तथा सन्-संवतों की छान-बीन करने वाला व्यक्ति इतना कलाप्रिय हो सकता है, इसकी कल्पना कम-से-कम मैंने तो कभी नहीं की थी। मैं तो वर्मा जी को भाषा-शास्त्री के नाते ही जानता था और सोचता था कि उनमें सरसता का अभाव होगा लेकिन इन चित्रों ने मेरी कल्पना को भ्रम सिद्ध कर दिया।

इसके पश्चात् उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती के हिन्दी और संस्कृत के पत्र दिखाए। यद्यपि ये पत्र मनोविनोद के लिए ही संग्रहीत किये गए थे, पर आज वे खोज की वस्तु बन गए हैं। इन पत्रों को उन्होंने बड़ी सुन्दरता से सँभालकर रखा है। मैंने जब यह कहा कि आप इन पत्रों को प्रकाशित क्यों नहीं करते, तो उन्होंने कहा—"मुझे पब्लिसिटी से घृणा है। मेरा इसमें वश नहीं है। मेरी मनोवृत्ति ही ऐसी बन गई है।" और यह यह कहते-कहते उन्होंने एक सुन्दर-सी कापी निकालकर कहा—"देखिए यह ग्राम-गीतों का संकलन है। यह तब का है, जब मैं इण्टर में पढ़ता था और मेरी अवस्था लगभग १७-१८ वर्ष की थी। ये गीत मैंने अपनी दादी से संग्रह किए थे। मेरी दादी असाधारण स्त्री थीं। समझदार, परिश्रमशील, गम्भीर और घर के प्रबन्ध में पटु। उन्हें प्राचीन संस्कृति से बड़ा प्रेम था। उन्हीं के कारण स्त्रियों के प्रति मेरे हृदय में आदर की भावना अंकित हो गई है। वे बराबर गीत सुनाती रहती थीं। उनमें से कुछ मैंने लिख लिये थे। ड्राइङ्ग के शौक के कारण काट छाँट और क्रम से सजाना स्वयं मेरी प्रकृति बन गई थी। यही नहीं मैंने उनसे बहुत-सी दवाइयाँ भी लिखी थीं, जिनको मैंने अलग-अलग विभागों में क्रमशः विभाजित किया था।"

इस कापी को देखकर मैं समझ गया कि जो व्यक्ति इण्टर

में ही चीजों को इस प्रकार श्रेणी-विभाजन के साथ रखने में इतना निपुण हो, वह भविष्य में यदि तर्कपूर्ण ढंग से साहित्य की खोज कर सका तो क्या आश्चर्य है ? उसे गंभीर प्रकृति का होना ही चाहिए। यह सोचते-सोचते मेरे मन में आया कि मैं उनके समकालीन अध्यापकों और विद्वानों के विषय में उनकी सम्मति जानूँ। इस विचार का आना था कि मैं पूछ उठा—"क्या आप पं० रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा अन्य व्यक्तियों के विषय में कुछ संस्मरण सुना सकेंगे ?"

बड़ी गंभीरता के साथ उन्होंने कहा—"अधिक निकट का सम्बन्ध तो मेरा किसी से नहीं रहा। हाँ, वैसे विश्वविद्यालय में होने के कारण मैं सीनियर लोगों के सम्पर्क में बराबर आता रहा। शुक्लजी के विषय में मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि असाधारण विद्वान् होने के अतिरिक्त वे वास्तव में बड़े सहृदय थे। लेकिन अपना दिल कुछ ही लोगों के बीच में खोलते थे। बाबू श्यामसुन्दरदास जी को मैं सम्मान की दृष्टि से देखता था और जब कभी काशी जाता था तब दो काम अवश्य करता था—एक तो बाबू साहब के दर्शन और दूसरे भारत-माता के मंदिर की यात्रा।"

जब वे यह कह रहे थे तभी एक चपरासी आया और किसी मीटिङ्ग की बातचीत करके चला गया। उसके जाने पर मुझे पता चला कि डॉक्टर साहब आर्य समाजी हैं और बराबर सांस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से आर्य समाज में व्याख्यानादि कराते रहते हैं। हमारी बातचीत में कहीं भी शिष्टाचार का झूठा प्रदर्शन न था। इसलिए डॉक्टर साहब प्रत्येक प्रश्न का उत्तर स्वाभाविक रूप से दिये जा रहे थे। मैंने इस बीच के व्यवधान के बाद उनसे पूछा—"किन देशी-विदेशी कलाकारों का आपके जीवन में प्रमुख स्थान रहा है ?"

इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने बताया—"मेरे जीवन के दो अंग रहे हैं—साहित्यिक मनोविनोद का अंग और गंभीर विषयों पर काम करने का शौक। इन दोनों अंगों में भिन्न-भिन्न लेखक मुझे प्रभावित करते रहे हैं। प्रथम क्षेत्र में 'वाल्मीकि रामायण' और 'सूर-सागर' इन्हीं दो की ओर मेरा अधिक आकर्षण रहा। वह आकर्षण आज भी वैसा ही है। इन्हें छोड़कर किसी विदेशी लेखक को बार-बार पढ़ने की मेरी इच्छा नहीं हुई। शेक्सपीयर पूरा पढ़ा, लेकिन उसमें इतना आकर्षण मुझे नहीं लगा कि मैं उसे फिर पढ़ता।

दूसरे क्षेत्र में मेरे आदर्श ओझा जी और उनकी कृतियाँ तथा मेरे पूज्य गुरु पं० गंगानाथ झा रहे हैं। उनके व्यक्तित्व और कार्यों से मुझे निरन्तर गंभीर कार्य करने की प्रेरणा मिलती रही है। सच तो यह है कि संलग्नता के साथ कार्य करना मैंने इन्हीं से सीखा है।"

अपने इन गुरुजनों के नामोल्लेख के समय वर्माजी ने जिस श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन किया उसे देखकर मैं दंग रह गया। आजकल इस प्रकार की विनम्रता ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सकती।

"आपको अपनी किस कृति से सर्वाधिक सन्तोष हुआ है?" मेरा अगला प्रश्न था।

"मेरे कार्य के दो क्षेत्र रहे हैं—भाषा-सम्बन्धी खोज और भाषा-विज्ञान का क्षेत्र तथा भारतीय संस्कृति से सम्बन्ध रखने वाला क्षेत्र। पहले क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली रचनाओं में मैंने सबसे अधिक परिश्रम अपने 'थीसिस' पर किया था, जो फ्रेंच में प्रकाशित हुआ है। उसका रूपान्तर अभी अंग्रेजी में नहीं हुआ है और हिन्दी में भी वह अभी अप्राप्य है। मैं उसको अपनी उत्कृष्टतम और गंभीरतम कृति मानता हूँ। इसके उपरान्त दूसरा महत्त्व-

पूर्ण ग्रंथ 'हिन्दी भाषा का इतिहास' कहा जा सकता है; किन्तु यह विशेष मौलिक कृति नहीं है। कारण, यह विद्यार्थियों की दृष्टि से लिखी गई है।

दूसरे क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाला कोई बड़ा ग्रंथ मैं अभी तक प्रकाशित नहीं कर पाया हूँ। हाँ, इस सम्बन्ध में अनेक लेख जब-तब मैंने लिखे हैं। उनमें से कुछ का संग्रह 'विचार-धारा' में किया गया है। इस सम्बन्ध में एक बड़ा ग्रंथ लिख अवश्य रहा हूँ, किन्तु वह कब तक पूर्ण हो सकेगा कह नहीं सकता। क्योंकि I am Rather a slow worker (मैं धीरे-धीरे काम करने वाला हूँ)। इस ग्रंथ का नाम 'मध्य देश का इतिहास' होगा। इसके विषयों का वर्गीकरण और विवेचन मैंने अपने दृष्टिकोण से किया है। दूसरे मैंने इसके लिखने के लिए देशी या विदेशी विद्वानों के लिखे ऐतिहासिक ग्रंथों की सहायता नहीं ली है। इसके विपरीत मैंने समस्त प्राचीन उपलब्ध सामग्री को देखा है। वेद की मूल संहिताओं तथा समस्त वैदिक साहित्य को पढ़ा है। फिर समस्त बौद्ध साहित्य और संस्कृत के महाकाव्यों और नाटकों आदि का पारायण किया है। यह सब इसीलिए कि अपने दृष्टिकोण से विषय का विवेचन कर सकूँ।"

इसके साथ ही उन्होंने अपने इस प्रस्तावित ग्रंथ की विषय-सूची और एक अध्याय भी दिखाया। मेरा विश्वास है कि यदि यह ग्रंथ प्रकाश में आया तो एक मौलिक कृति होगी और हिन्दी के इतिहास-लेखकों के लिए भविष्य के पथ को प्रशस्त करने में समर्थ होगी।

जब 'मध्य देश का इतिहास' के सम्बन्ध में वे अपने दृष्टिकोण को बता रहे थे और अपने श्रम का लेखा दे रहे थे तब मैंने उनसे पूछा—"आजकल लोग इतना परिश्रम करने की हिम्मत क्यों नहीं करते, और क्यों इतनी तेजी से सस्ता साहित्य दे रहे हैं ?"

इसका उत्तर उन्होंने जो दिया वह उनकी तीव्र दृष्टि और जागरूकता का प्रमाण है। उन्होंने कहा—"आजकल लोग समुचित अध्ययन और मनन को महत्त्व नहीं देते, इसका कारण यह है कि उनका काम चल जाता है। पुस्तक छपने पर बिकती तो है ही, भले ही उसकी कद्र न हो। लेखक उसी में सन्तोष कर लेता है। फिर आज का लेखक जीवन को बहुत साधारण वस्तु समझता है और उसके सम्बन्ध में आसानी से अपनी राय दे देता है। वह आज के जीवन की जटिलता और गंभीरता का अनुभव न करके उसके साथ खिलवाड़-सी करता है। मशीन-युग भी इसका एक कारण है, क्योंकि मशीन-युग में मनुष्य-जीवन को छोड़कर और सभी चीजें मँहगी हैं। और भी अनेक बातों की प्रतिक्रिया हुई है।"

"तो क्या सत्साहित्य की अभिवृद्धि के लिए आप लेखकों के संगठन के पक्ष में हैं?"

"संगठन से लाभ तो अवश्य होगा पर इस प्रकार के संगठन अधिक-से-अधिक उत्तम द्वितीय श्रेणी के ग्रंथ अथवा साधारण प्रथम श्रेणी के ग्रंथ प्रकाशित कराने में ही समर्थ होंगे, जब कि वास्तविक प्रथम श्रेणी के ग्रंथ आन्तरिक प्रेरणाओं से ही लिखे जाते हैं।"

बात-चीत कुछ ऊपर के विषयों की ओर जाती देखकर मैंने उनसे प्रश्न किया—"इतनी लम्बी साहित्य-साधना में क्या कभी आपका जी भी ऊबा है? यदि हाँ, तो उसके कारण क्या रहे हैं?"

वे बोले—"पिछले चार-छः वर्षों से ऐसे क्षण कभी-कभी अवश्य आए हैं, जब कि ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली दुनिया भी अस्थायी, अनावश्यक तथा उपेक्षणीय दिखलाई पड़ी है। ऐसा मालूम होता है कि इससे ऊँचा भी कोई जीवन का क्षेत्र है, जो वास्तविक

कभी-कभी तो यह समय दो साल तक पहुँच जाता है। इस बीच में पढ़ना, विचार करना और नोट्स लेना जारी रहता है। लगभग आधे दर्जन विषय दिमाग़ में रहते हैं। उनके सम्बन्ध में जब समय मिलता है, पढ़ता रहता हूँ। लायब्रेरी में बैठकर यह काम अच्छा होता है, क्योंकि वहाँ बाधा कम पहुचती है। जब मन में पूरी रचना की प्रतिमा स्पष्ट बन जाती है तब उसे लेख-बद्ध करता हूँ। उस समय आन्तरिक प्रेरणा-सी होती है। प्रायः एक ही बैठक में या सीमित समय में लिखना चाहता हूँ। विचारों का ताँता बँध जाता है। लिखने में शीघ्रता करनी पड़ती है। बीच में व्यवधान आने से कभी-कभी वह चीज़ पूरी नहीं हो पाती। प्रायः तीसरी बार से पहले उसके बाह्य रूप से मुझे सन्तोष नहीं होता। मैं नक़ल भी स्वयं ही करता हूँ, क्योंकि नक़ल करते समय बहुत-सी ऐसी नई बातें सूझती हैं, जिनसे कृति में सौन्दर्य आ जाता है। दूसरी बार लिखी चीजें एक-दो महीने तक पड़ी रहती हैं। फिर उन्हें पढ़ता हूँ और तब उनको अन्तिम रूप मिलता है। पहला ड्राफ्ट विषय की दृष्टि से लिखा जाता है। दूसरी आवृत्ति में भाव-प्रकाशन पर ध्यान देता हूँ। इस पर भी दृष्टि रखता हूँ कि अनावश्यक शब्द अथवा वाक्य न आने पायें। उल्लेख्य वस्तुओं को यथा-स्थान रखता हूँ। जब इस सम्बन्ध में भी सन्तोष हो जाता है तब प्रेस-कापी तैयार करता हूँ। प्रेस के लिए जो कापी भेजता हूँ, उसमें अपनी जानकारी के अनुसार पूर्ण सतर्क रहता हूँ।

मैं अधिकांश कार्य प्रातःकाल करता हूँ। तीसरे पहर या रात को भी एकान्त होने पर कार्य करता हूँ और किया है। लेकिन ३-४ घण्टे से अधिक कार्य नहीं कर सकता। काम के समय एकान्त अवश्य चाहता हूँ। कार्य के बीच मे घर या बाहर के लोगों का व्यवधान पड़ने से मुझे दुःख होता है। अधिक कार्य

अपने डिपार्टमेंट में या प्रातः ऊपर की छत के कमरे में किया है।"

वर्मा जी की भाषा, विचार-प्रणाली और विषयगत गाम्भीर्य का रहस्य अब मेरी समझ में आया। आस्ट्रिया के प्रसिद्ध साहित्य-कार स्टोफेन ज्विग की तरह वे एक-एक वस्तु को खूब जाँच-पड़ताल के साथ बाहर आने देते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि वे स्वयं ही तीन बार लिखते हैं। यह धैर्य बहुत कम लोगों में होता है। उनकी लेखन-प्रणाली के सम्बन्ध में जानने के बाद मैंने सोचा, वर्मा जी के तीन प्रमुख स्वरूप हैं—भाषा वैज्ञानिक, आलोचक और अध्यापक। इसलिए इस सम्बन्ध में उनसे अवश्य कुछ पूछना चाहिए। यही सोचकर मैंने उनसे पूछा—"आज के आलोचना-साहित्य के सम्बन्ध में आपका क्या मत है?"

उन्होंने कहा—"आलोचना-साहित्य इस समय तीन रूपों में मिलता है :

१. अखबारी आलोचना—इसमें कविता की आलोचना का शौक दिखाई पड़ता है। 'कुछ लिख देना चाहिए' की मनोवृत्ति इसके मूल में रहती है। ऐसी सभी आलोचनाएं बिना पूर्ण अध्ययन और पूर्ण योग्यता के लिखी जाती हैं। ग्रंथ के बाह्य रूप और आकार-प्रकार को देखकर ही अपने उद्‌गार प्रकट कर दिए जाते हैं।

२. पुस्तकों की भूमिका के रूप में—स्व० शुक्लजी की सूर, तुलसी, जायसी आदि की भूमिकाएं इस कोटि में आती हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी ऐसी भूमिकाएँ लिखी हैं। ये अधिक अध्ययन और मनन के फल स्वरूप लिखी गई हैं।

३. यूनिवर्सिटियों के थीसिस के रूप में—ये आलोचनाएं पिछले दो वर्गों की अपेक्षा अधिक विस्तृत, गम्भीर और वैज्ञानिक हैं किन्तु साथ ही निर्जीव भी; क्योंकि सजीवता के लिए

भावुकता की जरूरत है और भावुकता से सत्य पर आवरण पड़ता है। फिर मौलिक लेखक की प्रतिभा अन्वेषक की प्रतिभा से भिन्न प्रतिभा है। इन दोनों का मेल असाधारण होता है और कभी-कभी ही देखने को मिलता है।

लेकिन निराशा को बात नहीं है। ये तीनों प्रारम्भिक सीढ़ियाँ हैं। इनके उपरान्त ही वास्तव में रोचक और साथ ही वैज्ञानिक आलोचनात्मक साहित्य लिखा जायगा। ज्ञान की दृष्टि से सच्चा, शैली की दृष्टि से आकर्षक और प्रभाव की दृष्टि से पूर्ण साहित्य अभी नहीं लिखा गया है। अभी तो उसमें एकांगीपन है।"

यहीं जब मैंने उनसे पूछा कि आज के किस आलोचक का आप सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तो उन्होंने बताया—"सभी क्षेत्रों में हम लोग नींव की ईंट हैं। इमारत बनाने वाले तो भविष्य में आयंगे सार्वभौमक रूप से भी हमारा साहित्य प्रयोगात्मक सीढ़ी पर है और वास्तविक साहित्य भविष्य में ही बन सकेगा।"

प्रयाग में उन दिनों महापण्डित राहुल सांकृत्यायन के सभापतित्व में होने वाले अ० भा० हि० प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन में शामिल होने मैं गया था और उस सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास हुआ था, जिसमें मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की पहल की गई थी। मैंने उस प्रस्ताव को दृष्टि में रखकर उनसे प्रश्न किया—"क्या आपकी सम्मति में मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाया जा सकता है?"

उन्होंने कहा—"हिन्दी प्रदेश की जन-पदी बोलियों को जनता की शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, इसे मैं हिन्दी-भाषा और साहित्य के लिए घातक समझता हूँ। इस समय हमें कोई ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए, जो हमारी केन्द्रित होने वाली शक्ति को टुकड़ों में बाँट दे या जिसका दुरुपयोग हमारे शत्रु विरोध में कर सकें। महात्मा जी के 'हरिजन' को ही लीजिए।

उनकी भाषा-शैली का परिणाम क्या होगा, कह नहीं सकता। यह तो भविष्य की बात है। फिर भी इतना अवश्य है कि मातृ-भाषाओं के शिक्षा का माध्यम होने से बड़ी कठिनाई होगी और देश और भी छोटे-छोटे भागों में बंट जायगा। और आप के विरोध और वैमनस्य का एक कारण और बढ़ सकता है।

आर्य भाषाओं के प्रदेश में देवनागरी लिपि और संस्कृत की तत्सम तथा तद्भव शब्दावली की ओर झुकने वाली भाषा ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। विदेशी शब्दावली तथा लिपियों में आस्था रखना दुराग्रह है और हमें इस असंगत दृष्टि-कोण को छोड़ देना चाहिए। देखिए न, जनपदी बोलियों में फारसी और अरबी के शब्द ही कितने हैं? 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' में दिए गए जनपदी बोलियों के उदाहरणों में फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग १॥-२ प्रतिशत से अधिक नहीं पाया जाता। हिन्दी-जनता अधिक विदेशी शब्दों का प्रयोग करती है और हिंदी-साहित्य के कम, यह कहना गलत है।

पन्द्रह वर्ष पहले प्रांत के शिक्षा-विभाग में भी इस आशय का प्रस्ताव आया था कि जनपदी बोलियों में शिक्षा दी जानी चाहिए। लेकिन मैंने तब भी यही राय दी थी कि इससे अपने प्रांत के टुकड़े हो जायंगे और यह नीति घातक होगी। आज भी मेरा विचार यही है कि ऐसा नहीं होना चाहिए।"

हिन्दी भाषा के साथ ही मैंने उनसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन की बात उठाकर कहा कि कुछ लोग उसे अवैज्ञानिक कहते हैं, इससे आप कहाँ तक सहमत हैं? उन्होंने इस सम्बन्ध में कहा—"वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास को दो ही कालों में बाँटा जा सकता है—एक मध्य युग, जो १४ या १५ वीं सदी में प्रारम्भ होकर १८५० या ७० ई० तक आता है और जिसमें मध्ययुगीन धार्मिक तथा सामाजिक भावनाओं

की प्रधानता है, और दूसरा आधुनिक युग, जो भारतेन्दु से आरम्भ होता है। मैं 'भारतीय इतिहास कांग्रेस' की ओर से प्रकाशित होने वाले 'भारतीय इतिहास' (Indian History) में 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नामक अध्याय लिख रहा हूँ। उसमें इसी प्रकार के काल-विभाजन को लेकर चला हूँ। उपलब्ध सामग्री के आधार पर लिखित परम्परा १५ वीं शताब्दी से पीछे नहीं जाती।"

फिर एक व्यक्तिगत-सा प्रश्न मैंने किया—"क्या अध्यापन-कार्य आपकी रुचि के अनुकूल है?"

"अवश्य," उन्होंने उत्तर दिया, "पूर्णतया मेरी रुचि के अनुकूल है। लेकिन मैं यह समझता हूँ कि मेरे जैसे खोज की वृत्ति वाले बड़ी उम्र के अध्यापकों को पढ़ाने के कार्य से हटाकर खोज के कार्य में लगाने की बड़ी जरूरत है। ऐसा करने से देश का लाभ होगा और प्रतिभाएं नष्ट होने से बचेंगी।"

यहीं उन्होंने एक सफल साहित्याध्यापक के गुणों के सम्बन्ध में बताया कि उसे तीन बातों की आवश्यकता है—१. विषय का पूर्ण ज्ञान संचित करना, २. सफल पाठन-शैली के प्रति निरन्तर उन्मुख रहना, तथा ३. चरित्रवान होना।

चर्चा लम्बी होती जा रही थी इसलिए मैंने उनसे अन्त में पूछा—"अब आप हिन्दी को और क्या देना चाहते हैं?"

उन्होंने उत्तर दिया—"अब तो भाषा-विज्ञान पर ही काम करना है। मेरे पास व्रज-क्षेत्र की बहुत-सी मौलिक सामग्री है। अपने 'थीसिस' में मैंने उसका आंशिक उपयोग ही किया था। भविष्य में उसी पर कार्य करना है।"

जब मैं उठकर चलने लगा, तो उन्होंने एक डिबिया में से इलायची मुझे दी, जो उनकी सात्विकता, भारतीयता और शालीनता की सूचक थी।

६

आचार्य चतुरसेन शास्त्री

उस दिन मैं प्रातः ८ बजे ही भाई क्षेमचन्द्र 'सुमन' के साथ आचार्य चतुरसेन शास्त्री से इन्टरव्यू लेने उनके निवास-स्थान शहादरा (दिल्ली) में जा पहुँचा। मैं सोच रहा था कि आचार्य विख्यातनामा चिकित्सक और दिग्गज साहित्य-रथी हैं, वे किसी सुसज्जित कक्ष में बैठे अध्ययन कर रहे होंगे या लेखन-कार्य में व्यस्त होंगे, परन्तु पहुँचकर देखा यह कि वे एक अधबनी कोठी के ऊबड़-खाबड़ अहाते में एक बड़े-से चूल्हे पर चढ़ी बड़ी-सी कढ़ाई में कोई काली-काली-सी चीज पका रहे हैं। हाथ में लेखनी नहीं, बड़ा-सा एक करछुल है। देखते ही हर्ष से चिल्ला उठे। बोले, "आइए, कार्ड कल मिल चुका था। सोच रहा था, आप आ रहे होंगे। यहीं क्यों न बैठा जाय?" उनके इस एक ही वाक्य में उनके स्वभाव और जीवन की एक झलक हमें मिल गई। सर्दी खूब कड़ी थी और आग बड़ी प्यारी लग रही थी। हम लोग वहीं कुर्सी पर जम गए। थोड़ी ही देर में वहीं चाय भी आ पहुँची।

बातचीत का प्रारम्भ हुआ भिलावे से। उस काली-सी चीज को इतने यत्न से उन्हें स्वयं पकाते देख हमने उसके सम्बन्ध में पूछा। इस पर आचार्य ने हँसते हुए कहा—"महा विष है। भिलावा। इसे मैं शीत-काल में प्रतिवर्ष २ सेर भक्षण करता हूँ। शिव ने तो

एक ही बार विष खाया था, मैं प्रति वर्ष खाता हूँ। इसी पर मेरा स्वास्थ्य, कार्य-शक्ति और जीवनी-शक्ति निर्भर है। उन्होंने भिलावे से सम्बन्धित अनेक मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण बातें सुनाईं। आयु के स्थिरीकरण में उसका औषध रूप में जैसा प्रभाव है उसकी उन्होंने व्याख्या करते हुए और कुछ घटनाएं सुनाते हुए मेवाड़ के भीलों की यह मजेदार कहानी सुनाई, कोई अब से ३० वर्ष पुरानी—

"एक ठिकानेदार के यहाँ मैं चिकित्सार्थ जा रहा था, सेज गाड़ी में। राह में पड़ा भीलों का एक गाँव। भीलों की चर्चा चल पड़ी। साथ के सरकारी सवार ने कहा—'ये सब चोर और डाकू हैं। यात्री को बिना मारे उसका धन लेते नहीं। पर इनका प्रधान काम पशु की चोरी है। पशु चुराकर ये उसे ऐसी अद्भुत रीति से काला कर देते हैं कि मालिक भी नहीं पहचान सकता।' यह सुन कर मैंने गाँव में चलने का आग्रह किया। पर गाँव में जाना खतरे से खाली न था, सिपाही और गाड़ीवान झिझके; परन्तु मैं हठ कर गया। सब लोग गाँव में पहुँचे तो अनेक स्त्रियों-बालकों ने कौतूहलवश हो सवारी घेर ली। कई पुरुष भी नारियल पीते आ खड़े हुए। मैंने कहा—"मुझे पटैल से मिलना है, उसे बुलाओ।" बूढ़ा पटैल अपने नग्न कृष्णकाय में आया तो मैंने गाड़ी से उतर कर जुहार किया और कहा—'मैं चिकित्सक हूँ—दिल्ली से राजा का इलाज करने आया हूँ। यहाँ तुम्हारे गाँव से गुजरा तो मैंने चाहा कि तुम्हें मिलूँ और पूछूँ कि क्या मैं तुम्हारी कुछ सेवा कर सकता हूँ। क्या तुम्हारे गाँव में कोई बीमार है, जिसे मैं देखूँ ?' पटैल प्रसन्न हो गया। उसकी पत्नी संग्रहणी से पीड़ित थी। वह मुझे अपनी झोंपड़ी में ले गया—मैंने रोगिणी को देखा, दवा दी और बातचीत से प्रसन्न किया। पटैल ने बड़े विनय से दो रुपये भेंट करने चाहे। मैंने कहा—"पटैल,

रुपये नहीं, दोस्ती दो।' पटैल बहुत खुश हो गया। ऊटपटी भाषा में उसने न जाने क्या-क्या कहा। मैंने कहा—'सुना है तुम पशु चुराते हो और उन्हें काला रँग देते हो ? क्या यह बात बिलकुल ही सच है ?' 'क्या आप देखेंगे ?' उसने कहा। मैंने अपनी स्वीकृति दी। वह मुझे अकेले को संकेत से टेढ़े-सीधे रास्ते से ले चला दोनों ओर नागफनी थी। इसकी मनुष्य के कद के बराबर ऊँची बाढ़ थी। साथ में तीन-चार युवक थे। सुर्मे-सा रंग, चमकता हुआ नंगा स्वस्थ शरीर, कंठ में मूँगों की माला, कमर में तलवार। दृश्य भयावहर था, पर मुझे रहस्य जानने की बड़ी उत्कण्ठा थी। अन्त में वह मुझे ऐसे बाड़े में ले गया, जहाँ सौ-डेढ़ सौ बैल खड़े थे। सब काले। उसने उसका भी भेद बताया कि किस प्रकार भिलावे के प्रयोग से वे पशुओं के रंग बदलते हैं। घर लौटकर इस पर मैंने बहुत प्रयोग-परीक्षण किये। और बाजार में सस्ते बिकने वाले इस विप को अद्भुत शक्ति-संपन्न रसायन पाया। तभी से लगभग २२ वर्ष से मैं प्रति वर्ष शीत-ऋतु में यह विपभक्षण करता हूँ। सन् २० में मेरे बाल सफेद होने लगे थे पर इसके प्रभाव से आज तक काले हैं।"

भिलावे की यह करामात सुनकर हम दङ्ग रह गये। मैंने अनुभव किया कि यह व्यक्ति जीवन को देखने की सामर्थ्य रखता है और इसमें एक सफल कलाकर की पैनी दृष्टि है। हम चाय की चुस्की लेते-लेते तन्मयता से उनकी बातें सुन रहे थे और उनके काले बालों को बारीकी से जाँच रहे थे।

बात-ही-बात में मेरे मुंह से 'वैशाली की नगर बधू' नामक उनके उपन्यास के उस समर्पण की बात निकल गई, जिसमें उन्होंने श्रीजवाहरलाल नेहरू को एक करारा प्रेम-उपालम्भ दिया है। मैंने कहा—"श्री नेहरू के प्रति ये शब्द लिखना आप ही का काम था।"

श्री नेहरू का नाम आते ही आप एकदम गम्भीर हो गये और बात का रुख एकदम राजनैतिक हो गया। आचार्य जी ने कहा—"नेहरू के लिए मैं सदैव चिंतित रहता हूँ। बेशक युग-पुरुष हैं वे? परन्तु जैसे मकड़ी अपने जाल में ही फँस जाती है वैसे नेहरू भी आज अपनी ही राजनीति में फँसकर खतरे के किनारे जा पहुँचे हैं। नेहरू का व्यक्तित्व ही देश को उस अराजकता के ख़तरे से बचा सकता है जो चारों ओर से देश को घेरता चला आ रहा है। वास्तव में कांग्रेस पर अकस्मात् ही अंग्रेजों ने भारत का शासन-भार फेंक दिया। इसके लिए कांग्रेस की कोई तैयारी ही न थी। अतर्कित रूप से देश के शासन ही का भार कांग्रेस पर नहीं आ पड़ा, विभाजन की अकल्पित विभीषिका को भी उसे झेलना हुआ। यह बड़ी बात समझनी चाहिए कि कांग्रेस इस विषम परिस्थिति को पार कर गई। और इसका बहुत अंश में श्रेय जवाहरलाल को है। परन्तु कांग्रेस के सिद्धांत में बहुत मूल-भूत गलतियाँ थीं। प्रथम तो यह कि उसका सारा ही संगठन राजनीतिक था। उसने अंग्रेजी सम्राज्यवादी ढाँचे पर अपनी राजनीतिक लोकशाही का निर्माण किया और उसका संगठन अमेरिका की आर्थिक लोकशाही की परिपाटी पर किया। इससे भारतीय शासन कांग्रेस की अधीनता में जनतन्त्र न बन सका—गणतन्त्र बन गया। गणतन्त्रों के भीषण परिणाम भारत शताब्दियों पहले भी भुगत चुका है। इस गणतन्त्र की सबसे बड़ी खराबी यह थी कि अधिकार योग्यतम पुरुषों के हाथमें नहीं गया, जो जनतन्त्र का प्रमुख सिद्धान्त है प्रत्युत गुट्टों के प्रतिनिधियों के हाथ में गया। देश में दलबन्दी का ऐसा कुत्सित रूप बन गया कि आज कांग्रेस तथा सच्चे देश-भक्तों ही ने परस्पर-विरोधी गुट्ट बना लिये। आज उनकी शक्ति देश को सुखी-समृद्ध करने की अपेक्षा परस्पर के संघर्ष में समाप्त हो रही है तथा जवाहरलाल

दिन-प्रतिदिन विरोधी तत्त्वों से घिरते जा रहे हैं। पटेल के बाद वे सर्वथा असहाय अकेले रह गए हैं।

दूसरी बात यह है कि जवाहरलाल ने साहित्यजनों का साथ छोड़ दिया। गांधी के जीवित रहते साहित्यजन उनके साथ थे। कह सकता हूँ कि साहित्यजन ही गांधी को अपने कन्धों पर बैठाकर सफलता और समर्थन के उस यशस्वी उच्च पद तक ले गए जहाँ वे आज प्रतिष्ठित हैं। आज का साहित्यकार जवाहर-लाल का समर्थक नहीं है। इसके अतिरिक्त मेरा यह भी विश्वास है कि गांधी-युग बीत चुका। भावी राजनीति के निर्माण के लिए नये 'दर्शन' की आवश्यकता है। उसका निर्माण 'साहित्य-कार' करेंगे, राजनीति के धुरी-पुरुष नहीं। यही सब सोचकर हम आगामी बसंत में एक साहित्यकार परिषद् का आयोजन कर रहे हैं। उसमें हम चाहते हैं कि हम साहित्यजनों को उनका ध्येय निर्णय करने में सहायता दें। हमारी अभिलाषा है, इसमें भारत की सब भाषाओं के चोटी के साहित्यकार जीवन की मूल परिभाषाओं की रेखाएं स्थिर करें। हम यह भी कोशिश करेंगे कि यह प्रस्तावित परिषद् ऐसी महत्त्वपूर्ण हो जैसी कि बुद्ध के बाद बुद्ध-सिद्धान्तों को आधुनिकतम रूप देने के लिए अशोक और कनिष्क ने ऐतिहासिक परिषदें बुलाई थीं।"

साहित्य के आदर्शों और ध्येयों की चर्चा छिड़ते ही आचार्य ने कुछ उत्तेजित होकर कहा—"मेरे तीन नारे हैं—एक राष्ट्रीयता का नाश हो, स्वाधीनता की भावना का नाश हो, देश-भक्ति का नाश हो।"

ये तीनों ही नारे हमें बड़े अटपटे प्रतीत हुए। मैंने हँस कर कहा—"यह तो अद्भुत है। क्या आप इन पर थोड़ा प्रकाश डालने की कृपा करेंगे ?"

"क्यों नहीं", आचार्य ने कुछ रुखाई और बहुत अधिक

गंभीरता से कहा—"राष्ट्रीयता को जन्म गांधीजी ने सन् १८ में दिया। उससे प्रथम देश में यथार्थनाम राष्ट्रवाद न था। वह भावना अपना काम कर चुकी। सहस्राब्दियों के बिखरे देश की एकरूपता स्थिर हो गई। परन्तु अब आज के विश्व-प्राङ्गण में राष्ट्र तत्व को कोई स्थान नहीं है। राष्ट्रवाद अब संघर्षों को उत्पन्न करने वाला है, जनतन्त्र का विरोधी है, विश्व-मानव संगठन की सबसे बड़ी बाधा है। जब तक विश्व के भिन्न-भिन्न देशवासी अपने-अपने राष्ट्रों की सीमा और उसकी स्वार्थ-रक्षा में तत्पर रहेंगे, युद्ध समाप्त न होंगे। जन-जन का एकीकरण नहीं होगा। इसलिये राष्ट्रीयता का नाश हो कर उसके स्थान पर सार्वभौम जनसंघ का जन्म होना चाहिये।

मैंने कहा—"जवाहरलाल भी तो यही कहते हैं?"

आचार्य ने उतावली से कहा–"कहते हैं पर कर तो नहीं सकते? क्योंकि कांग्रेस का संगठन ही राष्ट्रबादी है। इसी से भारत में गुट्ट बन गये। वे बनते ही जावेंगे और उनका परस्पर ऐसा संघर्ष होगा कि अराजकता का रूप धारण कर जायगा, यदि प्रतीकार न किया गया।"

हम लोग गहरे विचार में पड़ गये। मैंने कहा—"और देश-भक्ति? देश-भक्ति का नाश आप क्यों चाहते हैं?"

"इसलिये कि भाई, वह तो विशुद्ध पूँजीवादी पदार्थ है और जनतन्त्री भावनाओं का विरोधी है।" आचार्य ने कुछ क्रुद्ध होकर कहा। फिर अपेक्षाकृत शान्त स्वर में बोले—"देखिये १६ वीं शताब्दी के मध्यभाग में स्वामी दयानन्द और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने देशभक्ति को जन्म दिया। इससे प्रथम देशभक्ति की भावना देश में न थी। राजपूत जिस देश के नाम पर लड़ते थे वह देश नहीं राज्य थे। ये राज्य वंशों और गुट्टों के थे। सारे भारत की विपत्ति को टालने की उत्सर्ग-भावना तब देश में थी ही नहीं।

इसलिये यह देश-भक्ति केवल हिन्दुओं ही में रही। देश हमारी मातृ-भूमि है, माता सम पूजनीय है, उसके लिये आत्म-बलिदान हमारा कर्तव्य है, यह भावना केवल हिन्दुओं ही में रही, मुसलमानों में नहीं। यद्यपि शुरू में इक़बाल जैसों ने बिना समझे-सोचे हिन्दुओं के स्वर में स्वर मिलाया—पर फिर तुरन्त रँग बदल गया। कारण साफ़ था वे देश को माता के समान पवित्र पूजनीय नहीं मानते थे, फ़तह की हुई भोगने योग्य लोंडी समझते थे। इसी का तो यह परिणाम हुआ कि कांग्रेस की एक भी देश-भक्ति की बात न चली और मुसलमानों ने उसी प्रकार देश को बाँट लिया जैसे पिता की धन-धरती या जायदाद को दो बेटे बाँट लेते हैं। वास्तव में ईंट-पत्थर, जमीन, गाँव-नगर, जनपद के लिये मरना-मारना हास्यास्पद है। यदि हम देशभक्ति के स्थान पर मनुष्यभक्ति करते होते तो विभाजन होना ही नहीं। हिन्दू-मुसलमान दो तत्व रहते ही नहीं। हमने देश स्वतन्त्र किया पर हम स्वयं स्वतन्त्र नहीं हुए क्योंकि हम में अभी भी मनुष्य भक्ति उत्पन्न नहीं हुई। कुछ समय पूर्व धर्म के नाम पर लोगों ने प्राणोत्सर्ग किये थे, आज उनके वे प्राणोत्सर्ग जैसे हास्यास्पद हो गये हैं शीघ्र ही देशभक्ति के नाम पर किये गये उत्सर्ग भी हास्यास्पद हो जायेंगे।"

कुछ रुककर उन्होंने कहा—"स्वाधीनता की पुकार गुलामी की पुकार है, जो सारे एशिया में ऐसे समय गूँज रही है जब कि सम्पूर्ण विश्व सहयोग की आवश्यकता अनुभव कर रहा है। कभी फ्राँस और इंगलैंड में जैसे एक देश के मनुष्य का दूसरे देश में पहुँचना प्राणों के मूल्य पर होता था वैसा आज अमृतसर और लाहौर का हो रहा है। यह सब स्वाधीनता की भावना का विष है। आज देश के दो टुकड़े हुए हैं, शीघ्र देश के महाभवन की एक-एक ईंट बिखर जायगी। मनुष्य सामाजिक जीव है। उसे

स्वाधीन रहने का अधिकार नहीं। सहयोग से रहने का अधिकार है।"

"तब साहित्यकार का दृष्टिकोण क्या होना चाहिए?"

आचार्य झट बोल उठे—"साहित्यकार का न कोई अपना देश है, न जाति, न धर्म, न समाज, न राष्ट्र, न इन सब के प्रति उसका कुछ कर्त्तव्य है, साहित्यकार को तो मनुष्य के प्रति अभिमुख होना चाहिए। विश्व में मनुष्य किस प्रकार सुखी-समृद्ध, अभय और चिरजीवी हो यही सोचना, विचारना, कहना साहित्यकार का कर्तव्य है। साहित्यकार मनुष्य नहीं है—क्योंकि वह अतिमनुष्यों का सृष्टि करता है—वह महामानव है। जिस तुलसीदास ने राम, लक्ष्मण, सीता, भरत जैसी दिव्य मूर्तियाँ गढ़ीं, जिनके सम्मुख कोटि-कोटि जनपद भक्ति-भाव से झुक गये—वह तुलसीदास अपनी गढ़ी हुई मूर्त्तियों से—राम, लक्ष्मण, सीता और भरत से—बहुत बड़ा है, बहुत महान है।

मैंने आचार्य का ध्यान साहित्य की पुरानी धारा की ओर खींचते हुए कहा—"क्या हमें साहित्य की वह संचित संपदा छोड़ देनी पड़ेगी?"

आचार्य ने क्रुद्ध भाव से कहा—"नहीं तो क्या करेंगे आप? प्लेग के कीटाणुओं से भरे पदार्थों के मोह में पड़ कर उन्हें जीवन में आत्मसात करने के खतरे में पड़ेंगे आप? सामंती युग में मार-काट और घृणा-विद्वेष के जो दृष्य वीर रस के नाम से परिचित हैं आप उन्हें साहित्य के नाम पर कायम रखते ही चले जावेंगे? कहिए, भूषण से आप अपनी भावी सन्तान को क्या दिलाना चाहते हैं?

मैंने बीच ही में कहा-"किन्तु युद्ध तो एक अनिवार्य तत्त्व है।"

आचार्य ने कहा—"था। परन्तु अब नहीं रहेगा। अणु महास्त्र ने 'युद्ध' शब्द को निरर्थक कर दिया। यह 'युद्ध' मानव-संपत्ति

नहीं, पशु की प्रकृति है, यद्यपि मानवता के बाल्य-काल से आज तक मानव-जीवन के विकास का महत्तर आधार 'युद्ध' ही है। युद्ध में महा जातियों की चरम-शक्तियाँ निहित रही हैं। युद्ध ही ने जातियों का निर्माण किया है। संक्षेप में युद्ध ही मानवीय सभ्यता का इतिहास है। मानव ने अपने शैशव-काल ही से युद्ध को ऐसा प्यार किया है कि उसे अपने प्राण और प्राणाधिक पदार्थ भेंट किये हैं।

परन्तु युद्ध मनुष्य की सम्पत्ति नहीं पशु की प्रवृत्ति है। मनुष्य अभी तक भी सम्पूर्ण मनुष्य नहीं है। परन्तु वह पशुत्व से थोड़ा विकसित एक प्रगतिशील पशु रहा है। इसी से उसने अपनी सारी प्रतिभा युद्ध-विकास में खर्च की, जिसका चरम विकास अणु-महास्त्र के रूप में व्यक्त हुआ। परन्तु यह निश्चय ही मानव-मस्तिष्क में चिरधिष्ठित 'युद्ध-तत्त्व' का पूर्ण विराम है। इस महास्त्र ने अब तक विकसित सम्पूर्ण युद्ध-कला को निरर्थक कर दिया है। अब मनुष्य के सामने केवल दो मार्ग हैं—या तो वह सम्पूर्ण पशु बन जाय और इस तथा इस-जैसे महास्त्रों का निर्माण कर सर्वतोभावेन अपना विनाश कर ले या अपने में व्याप्त पशुत्व को एक बारगी ही निकाल फेंके और पूर्ण पुरुष होकर विश्व-संपदाओं को भोगे। मैं विश्वास करता हूँ कि मनुष्य दूसरे मार्ग का अनुसरण करेगा।"

मैंने कहा—"और श्रृङ्गार के संबंध में आपको क्या कहना है?"

"श्रृङ्गार", थोड़ी घृणा-मिश्रित भाव-भंगिमा से उन्होंने कहा, "श्रृङ्गार के नाम पर हमने अपनी बहन-बेटियों का काफी निर्लज्ज वर्णन किया। इस पर मुगल-दरबार के विलास का पूरा प्रभाव है। क्योंकि सम्पूर्ण रीति-शास्त्र ही मुगल-दरबार से प्रभावित राजाओं के आश्रित कवियों द्वारा निर्मित हुआ। अब आप जब स्त्री तत्त्व को जीवन-संगिनी बना रहे हैं, इस श्रृंगार का अश्लील पल्ला पकड़े

रहेंगे ? यदि आप ऐसा करेंगे तो संभवतः अपनी ही पत्नियों से आप लोग पीटे जायंगे।"

हम लोगों को हँसना पड़ा। पर आचार्य ने हमारा साथ नहीं दिया। मैंने कहा—"छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं।"

"तीन को फाँसी और, शेष सबको काला पानी!" इतना कहकर आचार्य अपने चश्मे से घूर-घूरकर हमें देखने लगे। अचकचाकर मैंने उनकी ओर देखा। उन्होंने कहा—"सर्वश्री प्रसाद, महादेवी वर्मा और पन्त को फाँसी और बाकी छायावादी कवियों को काले पानी का पहली कलम हुक्म दूँ, यदि अधिकार पाऊँ। यह काव्य-धारा क्या है, बावले की बड़ है, जिसमें रुदन, पीड़ा, विरह और वासना के ऐसे भाव-प्रतिभाव हैं,जो कल्पित, असत्य, अस्थिर और बे-समझी से भरे हुए हैं। इस कविता को पढ़कर पाठक को न आनन्द आता है, न उसे जीवन की कोई राह मिलती है। वह तो कविता पढ़ता है और भौंचक-साकवि को देखता रह जाता है।"

मैंने कहा—"आपने अपने 'हिन्दी-भाषा और साहित्य का इतिहास' में तो इनकी बड़ी प्रशंसा की है।"

"वह प्रशंसा नहीं विश्लेषण है। रोगी के थूक-मूत्र, मल और रक्त का जब विश्लेषण होता है तो उसमें बड़े-बड़े तत्त्वों को प्रकट करना होता है, पर उसी से रोग का विष प्रमाणित किया जाता है।"

कुछ देर रुककर उन्होंने कहा-"आप इस बात को मत भूलिए कि विज्ञान दार्शनिक तत्त्वों का शत्रु है। अज्ञेय तत्त्वों की बौद्धिक मीमांसा दर्शन है, परन्तु उनका प्रत्यक्ष प्रयोग विज्ञान है। विज्ञान शास्त्र ज्यों-ज्यों मनुष्य के निकट आता जायगा, दार्शनिक शास्त्रों की धज्जियाँ उड़ती जायंगी। जीवन का स्थिर सत्य विज्ञान में है,

दर्शन में नहीं। इसलिए हमारी कविता और साहित्य भी विज्ञान पर आधारित होने चाहिएं, जिसमें जीवन का स्थिर सत्य हो, विचार हो, प्रगति हो, हास्य हो, संगीत हो, रति हो, अनुराग हो, ज्योति हो, प्रकाश हो।"

"प्रगतिवाद के सम्बन्ध में आप क्या कहते हैं?" मैंने प्रश्न किया।

"वाद में नहीं प्रगति में तो आशा-ही-आशा है। पर यह तथा-कथित प्रगतिवाद तो राजनीतिक गुलामी में जकड़ा हुआ है। सच तो यह है प्रगति के बिना क्रान्ति हो नहीं सकती। संक्रान्ति और विश्व-दर्शन ही प्रगतिवाद के जन्मदाता हैं। फ्रान्स और रूस की संक्रान्तियों ने ही इन दोनों देशों के साहित्य को प्रगति-शील बनाया।"

हिन्दी के साहित्यिकों की चर्चा छिड़ने पर उन्होंने कहा—"आज के हिन्दी के साहित्यकार वास्तव में अधिकांश अंग्रेजी के पण्डित हैं। वे अंग्रेजी में सोचते हैं और अनुवाद करके हिन्दी में लिखते हैं। इसी से उनकी लेखनी का चमत्कार फीका रहता है।"

"क्या हिन्दी में कोई ऐसा साहित्यकार नहीं, जिसे हम दूसरी भाषा के साहित्यकारों के समक्ष रख सकें?"—मैंने पूछा।"

"नहीं", उन्होंने कहा, "ऐसा नहीं है। सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी और राहुल जी हिन्दी के प्रतिनिधि साहित्य-अतिरथी हैं। 'मिश्रबन्धु' हिन्दी के भीष्म पितामह हैं, जिनके साथ रामचन्द्र शुक्ल और महावीरप्रसाद द्विवेदी एण्ड को० ने अन्याय करके पीछे धकेला है। उनकी निस्वार्थ हिन्दी-सेवा अमूल्य है।"

जब मैंने उनके बाल्य-काल पर कुछ प्रकाश डालने को कहा तो क्षण-भर ही में उनके चेहरे पर सरल रेखाएं अंकित हो गईं। उन्होंने कहा—"मेरा जन्म अनूपशहर के निकट गंगा-तट पर

चाँदोख ग्राम में भाद्रपद कृष्णा ४ रविवार संवत् १९४८ विक्रमी में प्रदोष वेला में हुआ। मेरे पिता विशेष शिक्षित न थे। परन्तु उन्हें ऋषि दयानन्द के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनके दो गहरे मित्र थे—एक प्राणाचार्य होमनिधि शर्मा, जो उस काल में प्रसिद्ध चिकित्सक थे और दूसरे ठाकुर महावीरसिंह, प्रसिद्ध वैरिष्टर उदयवीरसिंह के पिता। इन तीनों ने आर्य समाज का प्रचण्ड प्रचार किया। उस प्रचार में डण्डे का तर्क ही अधिक था। वे आजन्म कट्टर आर्य-समाजी रहे। मेरे जन्म के बाद हमारी शिक्षा-दीक्षा के विचार से वे सिकन्दराबाद आ बसे, जहाँ उन्हें प्रसिद्ध आर्य-समाजी प्रचारक पं० मुरारीलाल शर्मा का साहचर्य मिला। यहीं उन्होंने सम्भवतः सन् १९०३ या ४ में स्वामी दर्शनानन्द (तब पं०कृपाराम) और पं०मुरारीलाल शर्मा के सहयोग से गुरुकुल सिकन्दराबाद की स्थापना की। शायद यही पहला गुरुकुल था। गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना इसके बाद ही हुई थी। कुल ३ रुपये चन्दे में आए और तीन विद्यार्थी दीक्षित हुए—एक मैं, दूसरे श्री देवेन्द्र शर्मा (पं० मुरारीलाल के पुत्र और पीछे आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रचारक) सांख्य-काव्य-तीर्थ, शास्त्री और तीसरा एक और, जिसका कुत्सित जीवन प्रारम्भ-तारुण्य ही में समाप्त हो गया था। एकाक्षी पं० भूमित्र शर्मा कर्णवास-निवासी बने हमारे आचार्य, और हम संभवतः छठी कक्षा से स्कूल छोड़कर ब्रह्मचारी बन गए। उन दिनों सिकन्दराबाद अच्छा खासा आर्य-समाज का प्रचार-गढ़ बन गया था। प्रसिद्ध भजनीक वासुदेव शर्मा और तेजस्वी गायक तेजसिंह की बड़ी धाक थी। रोज ही बाजार में धूम-धाम से प्रचार, उपदेश और शास्त्रार्थ होते। मुरारीलाल शर्मा विशेष पठित तो न थे; पर थे बड़े वाग्मी। हम बालक रोज मुसलमानों के बालकों को पकड़कर कहते—'साले, कर शास्त्रार्थ।' और खट से मार-पीटकरके चम्पत होते। वहीं हमें मेरठ

के प्रसिद्ध वाग्मी पं० तुलसीराम का सान्निध्य प्राप्त हुआ और पंडित कृपाराम का परिवर्तित दर्शनानन्द रूप देखा। पीछे उन्हीं से हमने दर्शनों का अध्ययन किया। इटावा के पं० भीमसेन जी के भी सनातनी होने के बाद वहीं दर्शन हुए। उनके और श्री दर्शनानन्दजी के शास्त्रार्थों की हम लोग खूब नकल उतारा करते थे।

गुरुकुल में हमें भूगोल और सत्यार्थ-प्रकाश आदि पढ़ाये जाते थे। इसका विरोध करके हम तीन-चार विद्यार्थी एक दिन रात को दो बजे दीवार फाँदकर संस्कृत पढ़ने की धुन में काशी को भाग गए, परन्तु पहुँचे केवल दो—श्री देवेन्द्र और मैं। राह में बहुत विपदाएं झेलीं। काशी पहुँचने पर भी बड़े कष्टों का सामना किया। वहाँ हम क्षेत्रों में खाते-पीते रहते, और आवारा-गर्दी में पढ़ते। विद्यार्थियों तथा पण्डों की गुण्डागीरी के भी खूब हथकण्डे देखे, कुछ सीखे भी। पीछे पिताजी ने आकर श्री केशव-देव शास्त्री के यहाँ व्यवस्था कर दी। बाद में वे अमेरिका चले गए और अमेरिकन पत्नी से ब्याह करके प्रसिद्ध हुए। तब दशाश्वमेध पर उनका औषधालय था। बाद में मैं जयपुर-संस्कृत-कालेज में भर्ती हुआ। वहीं मैंने साहित्य और चिकित्सा की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। आयुर्वेद की परीक्षाओं में सर्वप्रथम आयुर्वेद महामण्डल की परीक्षा मैंने ही पास की। ईस्वी सन् १९०९ ही मैंने सिकन्दरा-बाद में प्रैक्टिस शुरू कर दी थी। पीछे अनुक्रम से दिल्ली, अज-मेर रहकर सन् १३-१४ के लगभग डी० ए० वी० कालेज लाहौर में आयुर्वेद का प्रधान लेक्चरार नियत हुआ। प्रसिद्ध स्वामी व्रतानन्द (गुरुकुल चित्तौड़ के प्रतिष्ठाता) और लाहौर के सफल चिकित्सक पं० दुर्गादत्त मेरे छात्र रहे हैं। जयपुर में मुझे आर्य-समाज के दिग्गज वेदान्त-निष्णात पं० गणपति शर्मा से वेदान्त पढ़ने का अवसर मिला। वहीं श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, तथा वेद

के महान् पण्डित श्री मधुसूदन ओझा से सम्पर्क रहा। उन दिनों उत्तर भारत में संस्कृत के तीन मुख्य केन्द्र थे—काशी, जयपुर और लाहौर। यहीं पर मुझे महामहोपाध्यानरायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का भी सान्निध्य मिला।"

"लेकिन आप साहित्यकार कैसे बने?"

"बना क्या; मैं जन्मजात साहित्यकार हूँ। कभी मैंने ध्यान से साहित्य का अध्ययन नहीं किया, न मैंने उनके नियमों की परवाह की। साहित्य-जैसे मेरे जीवन में जीवन से पहले ही प्रविष्ट था। मैं अपने बाल-मित्रों को गद्य-पद्य में लम्बे-लम्बे पत्र अतिरंजित भाषा में लिखा करता था। अपने रचे छन्द हारमोनियम पर गला फाड़-फाड़कर गाया करता था। मेरी पहली पद्य-रचना संभवतः सन् १६०६ में ला० लाजपतराय के माण्डले-निर्वासित होने पर श्री वैंकटेश्वर प्रेस में छपी थी। तब शायद मैं छठी कक्षा में पढ़ता था। मुझे गुरु चोटी के मिले; पर वे दर्शन के थे, साहित्य के नहीं। साहित्यिक प्रेरणा बहुत-कुछ मुझे मेरे श्वसुर आयुर्वेद महोपाध्याय श्री कल्याणसिंह से मिली। जो पद्मसिंह शर्मा के अंतरंग मित्र थे। आज भी उनकी बातचीत में पद्मसिंह शर्मा की लटक है। मेरी सबसे पहली छपी रचना एक छोटा-सा ट्रैक्ट था, जो बाल-विवाह के विरुद्ध था। पुस्तक रूप में मेरा प्रथम उपन्यास 'हृदय की परख' सर्व प्रथम बम्बई में छपा। पीछे मेरा गद्य-काव्य 'अन्तस्तल', जिसकी भूमिका श्री पद्मसिंह शर्मा ने लिखी, हिन्दी का सर्वप्रथम मौलिक गद्य-काव्य था। दोनों ही पुस्तकें श्री नाथूराम 'प्रेमी' ने छापी थीं। एक-एक संस्करण के उन्होंने मुझे उपन्यास के शायद १००) और 'अन्तस्तल' के ६०) दिये थे। दूसरे संस्करण के ३०) ऑफर किये थे, पर मैंने वह स्वीकार नहीं किए। पीछे यह गद्य-काव्य अनेक यूनिवर्सिटियों में M. A. और B. A. के कोर्स में रहा। पत्रों में सबसे अधिक मेरी रचनाएं

'प्रताप' में छपी। मासिक पत्रों में लखनऊ की 'सुधा' और इलाहाबाद के 'चाँद' में। 'चाँद' का 'फाँसी अंक' और मारवाड़ी अंक का मैंने संपादन किया था। इन दोनों ही अंकों ने भारत में हड़कम्प उपस्थित कर दिया था। अबतक मेरे ८५ के लगभग ग्रन्थ २५० के लगभग कहानियाँ और एकाङ्की और १० हजार पृष्ठ का फुटकर साहित्य सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में छप चुका है।"

"आपको गद्य-काव्य की प्रेरणा कहाँ से मिली। और आपने पद्य न लिखकर गद्य-काव्य ही क्यों लिखा?"

"मुझे कभी किसी से कोई प्रेरणा नहीं मिली। मेरे मन में लहर आई और मैंने लिख डाला। मेरी अन्तःवासना ही मेरी प्रेरणा है। बचपन में मैं कविता ही लिखता था। अब भी कभी-कभी लिखता हूँ, पर छपाता नहीं। मुझे कविता के लिए तुतलाकर बोलना तथा भाषा के प्रवाह को तोड़-मरोड़कर गठरी बाँधना अच्छा नहीं लगता। मेरा विचार है कि साहित्य का नैसर्गिक सौंदर्य गद्य में है, पद्य में नहीं। मैं अप्रतिहत गति से लिखता हूँ, मेरा वेग बहुत है। स्वामी दर्शनानन्द को मैंने एक रात में एक पुस्तक लिखते देखा था। बचपन का मेरा वह प्रभाव कायम है। और मैंने भी एक रात में एक पुस्तक लिखी है। १००-१०० पृष्ठ फुलस्केप के ढेर मैंने एक-एक रात में लिखकर किए हैं। वह वेग अब धीमा हो गया है। तब आवेग में लिखता था, अब सोचकर। शायद यही कारण है कि पद्य लिखने में मेरी प्रवृत्ति नहीं हुई। क्योंकि वहाँ तो भाषा की बाँध-बूँध करनी पड़ती है, पद-पद पर अटकना पड़ता है। अटक-अटककर चलना मेरा स्वभाव नहीं। इसी से मेरे गद्य में ही पद्य का भाव-सौन्दर्य आ गया। यही गद्य-काव्य के जन्म का कारण हुआ।"

भाषा की बातचीत चली तो मैंने पूछा—"आपको लौह-लेखनी का धनी क्यों माना जाता है?"

"शायद मेरी भाषा के तीखेपन और विचारों की उग्रता के कारण। मेरी स्पष्ट और सीधी तीर-सी चुभने वाली वाणी भी इसका कारण हो सकती है। इसका कारण यह है कि मेरे साहित्य में कल्पना कम और स्थिर चिर-सत्य बहुत अधिक है। मैं स्वभाव से अत्यन्त कठोर होने के साथ-साथ अति कोलम भी हूँ। मेरे निर्णय से कोई शक्ति, कोई भय, कोई प्रलोभन मुझे हटा नहीं सकता। परन्तु मैं मनुष्य की पीड़ा नहीं सह सकता। खासकर स्त्रियों और बच्चों पर मेरा बड़ा मोह है। उनके दुःख-दर्द को देखते ही मैं आपे से बाहर हो जाता हूँ। जन्म से दरिद्र हूँ। दरिद्रता के दुःख भोगते मैंने अपने ही माता-पिता को देखा है। धनी-जनों के क्रूर और स्वार्थी जीवन भी मैंने निकट से देखे। इसी से मैं उन पर स्वभावतः क्रुद्ध हूँ। यही कारण है कि जब इन प्रसंगों पर मेरी कलम चलती है तो मैं अत्यन्त उत्तेजित और असंयत हो उठता हूँ। कहानी के पात्रों के साथ तो सही अर्थों में मुझे हँसना-रोना, मरना और दुःख-दर्द सहना पड़ता है। इसी से मेरी भाषा और भावों में उस सत्य और ओज के दर्शन हो जाते हैं। उसी को पढ़कर लोगों ने यह अजीब-सी उपाधि मुझे दे डाली यद्यपि आजकल तो लोहे की कलम से लिखने की परिपाटी ही पड़ गई है। स्कूल के बच्चे भी लोहे की कलम ही से तो लिखते हैं।"

यह कहते-कहते आचार्य खुलकर हँस पड़े।

"क्या आप किसी देशी-विदेशी लेखक से प्रभावित हैं?"

"बिलकुल नहीं। मैं अपने ही में मगन हूँ। मेरी साहित्य-संपदा मेरी अपनी है। उसमें किसी का साझा नहीं। हिन्दी-लेखकों में मैं राहुल से स्पर्द्धा करता हूँ और हजारी-प्रसाद द्विवेदी की कलम चूमता हूँ। उनकी 'वाणभट्ट की आत्म-कथा' बे-जोड़ है। हाँ, माइकेल मधुसूदन की कलम का मैं लोहा मानता हूँ। शरत्

मुझे प्रिय है, और रवीन्द्र के कथा-शिल्प को मैं प्रशंसा की दृष्टि से देखता हूँ। संस्कृत में भास-जैसा भाषा-सौष्ठव अन्यत्र नहीं है। निष्ठा और शिष्टाचार कालिदास की शकुन्तला पर खत्म हैं। माघ प्रकृत कवि की प्रतिष्ठा-भूमि पर है। अंग्रेजी कवि टेनीसन, रूसी लेखक टॉल्स्टॉय और गोर्की तथा फ्रेञ्च कथाकार ड्यूमा मुझे पसन्द हैं। परन्तु आदर मैं पृथ्वी-भर में एक ही साहित्य-कार का करता हूँ। वह है तुलसीदास। तुलसीदास की जोड़ का सत्कवि विश्व-साहित्य में दूसरा नहीं हुआ। उसके अमरत्व और विश्व-विशालता का कारण उसकी अखण्ड अपरिसीम तल्लीनता है, जिसमें भक्ति, पाण्डित्य, भाषा-अधिकार, चरित्र-कल्पना और प्रतिभा ने अमरत्व उत्पन्न कर दिया है। उन्होंने विशिष्ट जनों के लिए नहीं, सर्वजन के लिए कवित्व वितरण किया। उन्होंने कहा :

'कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥'

काल पाकर भाषाएं टूट-फूट कर विकृत हो जाया करती हैं, पर जब कभी हिन्दी पर यह संकट आयगा तो तुलसी की भाषा उसे अखण्डित रखने में बहुत सहायक होगी। हिन्दू धर्म का अन्तिम स्थायी संगठन तुलसी ने ही किया है।"

"आप लिखते कैसे हैं?"—मैंने प्रश्न किया।

"इसका वास्तव में कोई नियम नहीं हैं। कभी-कभी तो मैं हफ्तों दिन-रात सोता रहता हूँ और कभी लिखने में दिन-रात कब व्यतीत हुए, इसका ज्ञान नहीं रहता। ८-८ दिन तक अपने कमरे से बाहर तक न निकलना साधारण घटनाएं हैं। लोगों से मिलना-जुलना मुझे पसन्द नहीं। उनकी बातों से मैं तुरन्त ऊब जाता हूँ। परन्तु साधारणतया मैं रात को २ बजे से ५ बजे तक नियमित रूप में लिखता हूँ। लिखते समय मैं केवल लेखक ही नहीं

रहता। अपनी सृष्टि का द्रष्टा भी रहता हूँ। भावुकता के नाजुक प्रसंगों पर कभी-कभी तो मेरी हालत ऐसी खराब हो जाती है कि मैं कई दिन तक किसी से बात-चीत करने के योग्य भी नहीं रहता लिखने से पहले मैं कोई तैयारी नहीं करता—खासकर कथा-साहित्य की रचना में। सिर्फ विरोधी तत्त्वों का मन में उद्दीपन करता हूँ सुलगने लगता हूँ, तो कलम उठाता हूँ। फिर वह कलम नहीं दुधारा-खाण्डा हो जाता है। मैं आगा-पीछा नहीं सोचता। चौमुखी मार करता हूँ। ऐतिहासिक उपन्यासों में मैं ऐतिह्य तथ्यों को पीछे बैक-ग्राउन्ड में फेंक देता हूँ और स्थिर सत्य के आधार पर कल्पना-मूर्तियों को आगे ले आता हूँ। मेरी वह कल्पना-मूर्ति बनती हैं दूल्हा, और ऐतिहासिक तथ्य बन जाते हैं बराती। बस यही मेरा कथा-साहित्य का टेकनीक है। कहानी में मैं मानव-चरित्र को नहीं—चरित्र के प्रेरक भावों को अधिक विकसित करता हूँ। परन्तु विशद व्याख्यात विषयों पर मैं खूब अध्ययन और प्रमाणों की धूम-धाम से आगे बढ़ता हूँ। आलोचक के लिए इतनी-सी भी संधि नहीं छोड़ता।"

"आप कलम और स्याही कौन-सी काम में लाते हैं ?"

"जो मिल जाय। आजकल एक सस्ता कलम काम में ला रहा हूँ, जिसका निब हर महीने घिस जाता है तो नया बदल देता हूँ। कलम-घिसाई ही जो ठहरी।"

मैंने कहा—"आपने कभी बढ़िया कलम काम में नहीं लिया ?"

"क्यों नहीं, परन्तु तब, जब नुस्खे लिखता था, और बड़े-बड़े हिज़ हाइनेस अरदली में खड़े साँस रोककर मेरे एक-एक वाक्य को ब्रह्म वाक्य की भाँति समझते थे। तब सोने की कलम से लिखता था और सोना बरसाता था। परन्तु अब क्या ? साहित्यिक और सोने की रास तो एक है पर है, जन्म का बैर।"

साहित्य से जीविकोपार्जन का प्रसंग आने पर उन्होंने कहा—"देख तो रहे हो मेरा घर। कोई कल्पना कर सकता है कि यहाँ कोई भला आदमी रहता होगा। परन्तु समाज में जिस आदमी की कोई जरूरत नहीं है, जो न रिश्वत दे सकता है, न सिफारिश करा सकता है, न खुशामद कर सकता है, न तिकड़म; यह उस साहित्यकार का जीवन है। असहाय और एकाकी। सन्' ३६ में मैंने प्रैक्टिस छोड़ी। तब मेरी ३००० मासिक की प्रेक्टिस थी। मुलाकात की फीस लेता था। एक बार श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को भी मुझसे मिलने के लिए तीन दिन प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। परन्तु मुझे साहित्य और प्रैक्टिस दोनों में से एक वस्तु चुननी थी। मैंने साहित्य चुना। चुना नहीं, उसे त्यागने से इन्कार कर दिया। इससे और सब स्वयं ही छूट गया। ४८ के जमना-फ्लड में मेरे घर में ६ फुट पानी भर गया। घर नष्ट हो गया। औषध और पुस्तकें सब सड़ गईं। जो कसर थी वह चोरों ने पूरी कर दी पचास हजार की हानि हुई। और अब मैं सोलह आने प्रकाशकों। की दया पर निर्भर हूँ। परन्तु मुझे दुःख नहीं। मैं इच्छा-दरिद्र पुरुष हूँ और अपनी साहित्य-संपदा से सम्पन्न हूँ।"

"आपका स्वास्थ्य कैसा है।"—मैंने प्रश्न किया।

उन्होंने तपाक से कहा—"गत ३० वर्षों से मैं ३२ ही वर्ष का हूँ और अभी १०—२० वर्ष मेरा इरादा इससे अधिक अपनी आयु बढ़ने देने का नहीं है। मेरा सहायक यह मेरा विषभक्षण है, मेरा चरित्र है, मेरी आत्मनिष्ठा है। मैंने कभी कोई नशा नहीं किया, मैं जीवन की ओर उन्मुख हूँ। शारीरिक परिश्रम का मैं अवश्य आदी नहीं, पर मानसिक श्रम से मैं कभी थकता नहीं; असफलताओं से निराश होता नहीं। उद्योग में मेरी बहुत बड़ी निष्ठा है।"

"आपका मनोरंजन का विषय क्या है?"

"उत्तम व्यंजन अपने हाथ से बनाकर मित्रों को खिलाना या बच्चों के साथ गप्पें उड़ाना।"

प्रकाशकों की चर्चा छिड़ते ही आपने कहा—"सब बेईमान चोर और उचक्के हैं 'अन्तस्तल' के दूसरे संस्करण के ३०, एक प्रकाशक ने ऑफर किये थे—यह कह चुका हूँ। श्री दुलारेलाल भार्गव गत २० वर्षों से मेरी १०-१२ पुस्तकें छाप रहे हैं। एक कौड़ी रायल्टी नहीं दी। १०—१० संस्करण कर लिए। बहुत झक-झक की। परन्तु बेकार। मुकद्दमा नहीं किया। मित्र कह चुका हूँ इसलिए। 'आरोग्य शास्त्र' मैंने अपने खर्चे से छपाया था। महाशय जी उसे भी बेचकर खा गए। आज ८८ पुस्तकों का लेखक मैं हूँ। परन्तु मेरे साहित्य से मुझे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। सरकार को हमारे-जैसे साहित्यकारों से कुछ सरोकार ही नहीं हैं। कापी राइट कानून अपूर्ण है। साहित्यकार तो हर तरह निराधार-असहाय है। प्रकाशक तीन हजार छापते हैं, एक हजार बताते हैं। रुपया माँगिये तो कहते हैं, बिक्री ही नहीं, हुई।"

"क्या इतने पर भी आप साहित्य से ऊबे नहीं?"

"मैंने जीवन से ऊबना नहीं सीखा, उससे खेलना सीखा है। साहित्य मेरा जीवन है, जीवन का शृंगार है, उससे ऊबना कैसा?"

"आपकी सर्वश्रेष्ठ रचना कौन-सी है?"

"वैशाली की नगरबधू, जिस पर मैंने अपनी ४० वर्ष की संचित साहित्य-सम्पदा लुटा दी है।"

"क्या साहित्य के सहारे आजीविका नहीं चल सकती?"

"नहीं, जो साहित्यकार जीविका के लिए लिखेगा वह साहित्य नहीं लिखेगा, रोटियाँ लिखेगा। आजीविका के प्रलोभन में निष्ठा ठहर नहीं सकती। उत्तम साहित्य की रचना के लिए तीन बातों

की आवश्यकता है : १—आत्मा में पूर्णानन्द की अनुभूति, २—महामानवत्व की उच्चतम भावना, और ३–गहरी तल्लीनता। ये तीनों वस्तु आजीविका के सम्मुख कायम नहीं रह सकतीं। फिर, साहित्यकार सुख-दुःख, रति-विरति, पाप-पुण्य का सृष्टा-द्रष्टा होता है। वह सुख-दुःख, रति-विरति, पाप-पुण्य यदि उसके भीतर हों तो वह उनका ठीक रेखा-चित्र नहीं खींच सकता। मैं साहित्यकारों से कहूँगा कि वे साहित्य से अपने जीवन का शृङ्गार करें, उससे पेट भरने की कोशिश न करें। इसके अतिरिक्त उनमें अनुशासन, संगठन, निष्ठा, और आत्म-विश्वास की बड़ी आवश्यकता है। विशेषकर नये लेखकों को साहित्यकार बनने से प्रथम किसी साहित्यकार का अन्तेवासी बनना चाहिए। और एक बात है। आज का कवि आत्मा से भोगी है। वह सेन्द्रिय वासना की कल्पना में डूबा रहता है। इससे उसका चरित्र तथा शरीर कभी स्वस्थ नहीं रह सकता।"

वे मौन हुए तो हमने विराम की सोची। ४–५ घण्टे यह विचार-विनिमय हुआ। आचार्य अपनी बातें अविरल गति से, किन्तु आकर्षक ढंग से कहते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि उनकी बात-चीत, रहन-सहन और व्यवहार में दिखावा नहीं है। उनके चिन्तन में अध्ययन और मौलिकता का मिश्रण है। बात कहने के ढंग में दबंगता है। जो-कुछ वे कहते हैं उसके पीछे एक ठोस विचार-धारा होती है, जो सुनने वालों को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती। वे शरीर और मन से आज भी स्वस्थ और समर्थ कलाकार हैं, उनकी लेखनी का यौवन अभी वर्षों अपना जौहर दिखायगा।

७

श्री उदयशंकर भट्ट

सायंकाल सात बजे के लगभग भोजन से निवृत्त होकर हम लोग साहित्य-चर्चा करने बैठे। जब भट्टजी पान-सुपारी और तम्बाकू खा चुके तो मैंने सबसे पहले उनकी बाल्य-काल की परिस्थिति के सम्बन्ध में उनसे प्रश्न किया, जिस पर उन्होंने कहा—"मेरा बाल्यकाल ? क्या मैं यह मान लूँ कि मुझे आप महान् गौरव प्रदान कर रहे हैं ? इस विषय में तो मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मैं साधारण परिस्थितियों में से होकर नहीं निकला। एक तरह से इसे यों कहना चाहूँगा कि जीवन के बारह वर्ष बीतने के बाद से मुझे अपने-आपको उस अवस्था के प्रतिकूल, गम्भीरता पूर्वक जीवन के सम्बन्ध में विचारने को बाध्य होना पड़ा। वह इसलिए नहीं कि मैं कोई दार्शनिक हो गया था, किन्तु परिस्थितियों और माता-पिता के वियोग ने सब प्रकार की अवस्थाओं को जानने, परखने और पहचानने का अवसर दिया। मैंने एक समझदार व्यक्ति की भाँति इन पैरों पर खड़े होने के लिए अपना आह्वान किया और मैं संघर्ष, अभाव और उन पर विजय पाने के लिए युद्ध करने लगा। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रारम्भ में बारह वर्ष तक मुझे उतना ही स्नेह मिला, ममता मिली, जो एक उच्च मध्यवित्त

परिवार के लड़के को मिलनी चाहिए। इस अवस्था में माता-पिता के स्नेह के साथ उनकी पारम्परिक संस्कृति, धार्मिक विचार-धारा और हिन्दी तथा संस्कृत से प्रेम मिला। रात के समय मेरे पिता श्री फतेशंकर भट्ट दफ्तर से लौटकर मुझसे तुलसी-कृत रामायण सुना करते थे। इस प्रकार मैंने कई बार सम्पूर्ण रामायण का पाठ किया। इसके अतिरिक्त मेरे पिताजी को बहुत-से कवित्त और सवैये भी याद थे। सूरदास के पद भी मैंने उनके मुख से सुने थे। इस तरह दस-बारह वर्ष की अवस्था में मैंने उनको दुहराना प्रारम्भ कर दिया था।

इसके पश्चात् मैं अँग्रेजी के साथ संस्कृत भी पढ़ने लगा। संस्कृत मुझे घर पर पढ़ाई जाती थी। संस्कृत में 'रघुवंश' और 'मेघदूत' के कई स्थल मुझे सर्वथा कण्ठस्थ हो गए थे। पिता जी के देहान्त के अवसर पर मेरी अवस्था लगभग तेरह या चौदह की रही होगी। मेरी संस्कृत की ही पढ़ाई चलती रही। बीच में व्यवधान भी हुए। न जाने कैसे मैं अपनी पढ़ाई में लगा रहा। अब वे सब बातें याद तो नहीं हैं। उन धुँधली स्मृतियों को याद भी कौन करे? किन्तु उस अवस्था में मैंने जीवन के साधारण अनुभव प्राप्त कर लिये थे। उन अनुभवों की कहानी बहुत लम्बी है। कदाचित् मेरी प्रकृति में जो एक गम्भीरता आ गई, जीवन की परिस्थितियों ने जो आँख खोलकर देखने को बाध्य किया, वह सब इसी अनुभूति का परिणाम था। क्या मैं यह कहूँ कि इन्हीं सबके भीतर न समा सकने के कारण मुझे लिखने के लिए एक प्रेरणा मिली। निश्चय है कि उन सबने मुझे आगे बढ़ने की हिम्मत दी है। शायद यह कहने की आवश्यकता नहीं कि सब से पहले मैंने संस्कृत में लिखना प्रारम्भ किया। पान खाते-खाते एक बार पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ने मेरी प्रशंसा करते हुए जब मुझसे कहा कि मैं हिन्दी में ही लिखूँ तब वाणी ने जैसे खुला

रास्ता पकड़ा और मैं हिन्दी की ओर प्रवृत्त हुआ। मेरे पहले लेख को सन् १६१७ में 'सरस्वती' में प्रथम स्थान मिला। मुझे याद है उसका शीर्षक था—'सांख्य दर्शन के कर्त्ता'। यही कुछ कारण हैं, जिन्होंने मुझे लिखने की ओर प्रेरित किया। फिर भी इतना और कह दूँ कि जीवन की दार्शनिकता की ओर मेरी प्रवृत्ति प्रारम्भ से है। वह दार्शनिकता पुस्तकों से नहीं, जीवन से मुझे मिली।"

संस्कृत-साहित्य के अध्ययन और जीवन के प्रति दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण ही इस साहित्यकार के जीवन और साहित्य दोनों में भारतीयता का बड़ा संयत रूप देखने को मिलता है। खान-पान से लेकर वेश-भूषा और आचार-विचार तक में कहीं भी जो उनमें भारतीयता का अभाव नहीं पाया जाता, बातचीत में भी वे जो दूसरों की निन्दा-स्तुति से दूर रहने का प्रयत्न करते हैं और किसी को कटु आलोचना तक का जो उन्होंने आज तक उत्तर नहीं दिया तो इस सबका कारण यही है कि वे एक सुसंस्कृत दार्शनिक विचार-धारा के धनी हैं। इतना सोचने के पश्चात् मैंने उनसे प्रश्न किया—"आपका साहित्य-सृजन कब और कैसे प्रारम्भ हुआ और उसके लिए आपको प्रेरणा कहाँ से मिली?"

वे बोले—"यह लम्बी कहानी है। मेरे व्यक्तिगत सुख-दुःखों ने धुएं की तरह फैलकर मुझे वाणी दी। मैंने कविताएं लिखीं। किन्तु १६२० से लेकर लगभग १६२५ तक मैंने कांग्रेस में काम किया। इसके कारण लिखना-पढ़ना शिथिल-सा हो गया। इस बीच जीवन का एक सुसंस्कृत रूप मेरे सम्मुख आया। कांग्रेस में काम करने के बाद मुझे लगा जैसे अब मैं और साफ कह सकता हूँ। मुझे ज्ञान हुआ कि व्यक्ति से समिष्ट और समष्टि से राष्ट्र का महत्त्व अधिक है। इसके लिए वैसे दार्शनिक लेख छोड़कर

जीवन की वास्तविकता की ओर लौटाने की अपने भीतर एक लगन पाई और नाटक तथा कविता यही दो माध्यम मुझे मिले। कविता को मैं जीवन के रूपों की भाँति भिन्न दृष्टि कोणों से देखता रहा हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि कविता में अन्तर को छूने की जो एक शक्ति है वह अपनी बँधी हुई शब्द-शक्ति के द्वारा एक विशेष सीमा तक ही है और गद्य का विकास भावों के विस्तृत विकास में सहायक हुआ है। इसीलिए मैं नाटकों की ओर प्रवृत्त हुआ। नाटक जीवन का प्रतिरूप ही तो है। जो-कुछ है वह स्पष्ट और यथार्थ। और प्रारम्भ से ही मेरी यह प्रवृत्ति रही है कि मैं पढ़ता बहुत हूँ। इसलिए संस्कृत और अंग्रेजी मेरे अनुभव के माध्यम रहे। मैंने लगभग सभी प्रसिद्ध संस्कृत और कुछ थोड़े अंग्रेजी के ग्रन्थ पढ़ डाले। इसलिए संस्कृत-प्रेम जहाँ मुझमें जागरूक हुआ वहाँ अंग्रेजी साहित्य ने मेरी आँखें खोल दीं। मैंने पढ़ा, और खूब पढ़ा। इसी संस्कृत-प्रेम के कारण मैंने सबसे पहले 'तक्षशिला' काव्य लिखा। उससे पहले भी मैंने कविताएं लिखीं थीं।"

अध्ययन की बात चली तो मैं उनसे पूछ बैठा—"क्या आप यह बताने की कृपा करेंगे कि वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिन्हें आप अधिक पसन्द करते हैं और जिनका आपके जीवन में अपरिहार्य स्थान है?"

उन्होंने कहा—"संस्कृत में कालिदास, भवभूति, बाण, श्रीहर्ष और पश्चिम में शेक्सपियर, टाल्स्टाय, इब्सन, बर्नार्ड शॉ आदि मुझे प्रिय हैं। मैं प्रायः अवकाश पाने पर इन्हें पढ़ता भी हूँ। हिन्दी में तुलसीदास, सूरदास ने मुझे अधिक प्रभावित किया। कालिदास की सरसता और प्रकृति को देखने की अद्भुत क्षमता के कारण मैं उन्हें विश्ववन्द्य कवि मानता हूँ। वर्णन की सरसता और सौन्दर्य मैंने कहीं नहीं देखा। कुमार-सम्भव, मेघदूत,

और कालिदास पर एकाङ्की नाटक मैंने लिखे। मनुष्य के जीवन की गहन बुराई और भलाई, उत्थान और पतन तथा शाश्वत शक्तियों को समझने वाला शेक्सपियर से बढ़कर मुझे कोई कवि नहीं मिला। इसी प्रकार सामाजिक विषमताओं को समझने में 'इब्सन' का स्थान बहुत ऊँचा है। 'शॉ' की पद्धति बहुत निराली है। मेरा विश्वास है व्यंग्य तथ चुटीली बात लिखने में उसकी शक्ति अद्भुत है।

तुलसीदास मनुष्य के सात्विक जीवन के महान् द्रष्टा हैं। तुलसीदास स्वयं एक युग थे। सूरदास मनुष्य के हृदय तक उतरे, जब कि तुलसीदास जीवन की क्रिया भी बन गए। फिर भी जीवन में इतना ही तो नहीं है, वह उन दोनों से आगे भी है। उसके लिए यह सब प्राचीन जीर्ण-शीर्ण भी है। मैंने सबसे बड़ा कलाकार स्वयं मनुष्य को माना है जो कहीं पर एक मजदूर है, एक सेठ है, कवि है चित्रकार है। मैं यह मानता हूँ कि शास्त्रीय सिद्धांतों की शृंखलाएं और उनमें बँधा हुआ साहित्य वह नहीं देता जो आज मनुष्य को चाहिए। इसलिए मैंने अपने 'मुक्ति-पथ' नाटक की भूमिका में एक जगह कह डाला कि 'अन्धानुकरण मत करो। सभी समस्याएं आज वे नहीं हैं, जो पुराने शब्दों में फूट पड़ने को बाध्य करती हैं।'

फिर हम यही क्यों मानें कि पुराने साहित्यकारों को पढ़ना आवश्यक है? इसीलिए मैं बहुत अध्ययन-प्रिय होते हुए भी इस सृष्टि को सबसे बड़ा ज्ञान-कोश मानता हूँ। फिर उसी को क्यों न पढ़ा जाय? आखिर यह तो आप भी मानेंगे कि पुराने महान् साहित्यकारों ने यहीं से वाङ्मय का स्रोत प्राप्त किया है। इसलिए मैं मानता हूँ कि मनुष्य और सृष्टि यही वास्तविक साहित्य की प्रेरणाएं हैं और साहित्य भी मनुष्य के लिए है। जो लोग साहित्य को स्वांतः सुखाय मानते हैं उसका अर्थ केवल इतना

ही है कि साहित्य सृष्टि और स्रष्टा, दोनों के लिए पोषण देता है। वह उसको ही प्रतिबिम्बित करता है। स्रष्टा में जितनी ही बिम्ब-ग्रहण शक्ति होती है उतना ही बड़ा साहित्यकार वह बनता है। किन्तु साहित्यकार इससे आगे भी है। वह जहाँ भूत से जीवन की प्रवृत्तियाँ पाता है वहाँ वर्तमान में भविष्य का रूप ग्रहण भी प्राप्त करता है। इसलिए साहित्यकार का दृष्टापन उस कैमरे के लैन्स से और वास्तविक चित्र से भिन्न भी हो जाता है। हम जो अपने पूर्वजों से समस्याएं लेकर चलते हैं, अपने परिश्रम से उनके हल निकालते हैं। किन्तु समस्या और खड़ी हो जाती है। यही क्रम है। इन संकेतों की अभिव्यक्ति साहित्यकार देता है। सारांश यह कि मनुष्य का जीवन समस्याओं का समाधान भी है और नई समस्याओं का प्रश्न-वाचक चिन्ह भी।

जब उन्होंने साहित्य के मानव-सापेक्ष होने पर इतना जोर दिया तो मैंने साहित्य में वादों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए उनसे छायावाद, रहस्यवाद और प्रगतिवाद के सम्बन्ध में उनका मत जानना चाहा। इस विषय में उन्होंने मुझसे कहा—"छायावाद और रहस्यवाद, ये दोनों विचार-धाराएं युग की आवश्यकता थीं और प्रगतिवाद मनुष्य के मानसिक संघर्ष का एक चित्रण। प्रकृति का छाया-रूप-ग्रहण जब भावनाओं में व्यक्त होता है, जिसे हम मनुष्य की अन्तर्दशा विवशता के चेतन और उपचेतन में आकार-ग्रहण का रूप-विधान मान सकते हैं, तभी छायावादी कविता का जन्म होता है। वस्तुतः छायावाद प्रकृति से समन्वित मनुष्य की भावनाओं का एक रूप-ग्रहण है, जिसमें अव्यक्त, अमूर्त शक्ति हमारे व्यापारों के साथ अन्वित होकर नये-नये अप्रस्तुत विधानों को मूर्तता प्रदान करती है। यह चेष्टा जहाँ एक ओर आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख करती है वहाँ मनुष्य के हृदय में व्याप्त सौन्दर्य-बोध को भी रूप देती है। सौन्दर्य-बोध

की यह क्षमता मनुष्य और प्रकृति के समन्वय से खिलती है। फूलों के भीतर मुस्कराहट के रूप में, सुगन्धि से आत्म-विभोर कर देने वाली प्रकृति में जो एक अमूर्त शक्ति है उसको जानने की चेष्टा और उसमें निहित सौन्दर्य का आरोप छायावाद की कविताओं में होता है। हिन्दी में उसका केवल सौन्दर्य-पक्ष ही प्रस्फुटित हुआ है। यह मैं नहीं कह सकता, ऐसा क्यों हुआ। किन्तु जब 'बायरन' की समुद्र के ऊपर कविता मैं पढ़ता हूँ तब ऐसा लगता है कि छायावाद का यह रूप भी अत्यन्त प्रखर और आकर्षक है। इसलिए मेरे मत में हिन्दी में छायावाद का यह एकांगीपन जीवन के पूर्ण रूप को नहीं देख पाया।

रहस्यवाद हमारी बहुत पुरानी परम्परा है। वेद और उपनिषद्-काल से आत्मा और परमात्मा को पहचानने की जो परम्परा चली है, रामानुज, माध्व और शंकर ने जिसको दर्शन के रूप में ग्रहण किया, कबीर ने जिसको 'अनहद नाद' के रूप में पहचानने का प्रयत्न किया, उसी परम्परा का अविकसित रूप, (अविकसित रूप से मेरा तात्पर्य दर्शन-ज्ञान-हीनता से है) हमारे यहाँ रहस्यवाद के रूप में प्रगट हुआ है। यह संतों, सूफियों का विषय है। फिर भी एक बात तो माननी ही पड़ेगी कि रहस्यवाद के काव्य में शैली को नया परिधान मिला है।

आप्त और अनुमान, यही दो वस्तुएं हैं, जिनसे उस अज्ञेय का कुछ-कुछ ज्ञान हमको होता रहता है। अनुभव उसका एक विशेष सहायक साधन है। आज का रहस्यवादी कवि इसीलिए किसी विधि-विधान का समावर्तन करके नहीं चल सका है। जैसे उसे अँधेरे में चमती हुई आग का एक स्फुलिंग मिल गया या कि घनघोर तमिस्रा में एक बार बिजली कौंध गई, उससे दृश्यमान की क्षणिक छाया जैसे द्रष्टा को प्राप्त होती है, वैसे ही हमारे आज के रहस्यवादी कवि का रूप है। कदाचित् उप-

निषदों की 'नेऽति' 'नेऽति' और दर्शनों की अनिर्वचनीयता से हम आगे नहीं बढ़ पाए हैं। जो अनुभूति का विषय है उसका ज्ञान भी तो दुरूह है।

प्रगतिवाद अँधेरे से लौटकर अपनी ही समस्याओं को, और वह भी भौतिक रूप से, सुलझाने का एक मार्ग है। वस्तुतः प्रगतिवाद कार्लमार्क्स के सिद्धान्तों का साहित्यीकरण है। मार्क्स का जीवन-दर्शन सम्पूर्ण रूप से प्रत्यक्षवादी और तर्क-संगत है। मनुष्य की जो समस्याएं हैं उसकी मोटी और स्थूल संगति मार्क्सवाद है। वह आज के रोग की औषधि बताता है। सम्भव है कल के लिए भी हो, किन्तु इतना स्पष्ट है कि वह हिन्दी में छायावाद और रहस्यवाद की प्रतिक्रिया है। मैं प्रगतिवाद में पूर्ण विश्वास करते हुए भी उसका भारतीयकरण चाहता हूँ। मैं मानता हूँ कि जीवन केवल जड़वाद से ही बंधा हुआ नहीं है, उसका चेतनात्मक रूप भी है। वह आध्यात्मिकता परम्परा के रुधिर में बह रही है, फिर क्यों न हम वर्ग-हीन वर्ग-समाज के लिए मार्क्स-वाद का रूप स्वीकार करें और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए इस भारतीय आध्यात्मिकता को अपनायें। हमने इतिहास में इस आध्यात्मिकता के कई रूप देखे हैं और उसके साथ-साथ बहने वाली सामाजिक प्रणाली को भी देखा है इन सबमें कहीं-कहीं हमने चिन्तन-मनन द्वारा प्राप्त सुख और शांति को भी पाया है। मेरे देश की संस्कृति 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वास करती है।

एक बात और। साम्यवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता का विरोधी है जब कि यह मानना पड़ेगा कि मार्क्स भी एक व्यक्ति था। धर्म, समाज, सिद्धान्त-विचार, समस्याओं का सुझाव व्यक्तियों की गहरी अनुभूति के परिणाम हैं, जहाँ एक में आकर वैज्ञानिक-दृष्टि केन्द्रित हो जाती है। और उसी के फल हैं बुद्ध, शंकर,

दयानन्द और गांधी। यदि व्यक्ति की आँख समाज है तो समाज को दृष्टि देने वाला व्यक्ति है। यद्यपि मैं मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति का निर्माण समाज की परिस्थितियों से होता है। जिस वाद में विशेष निश्चित सीमा-रेखाए होती हैं वह क्षणिक हो जाता है। फिर उसमें प्रतिक्रियाएं उत्पन्न होना भी सम्भव है। जो सिद्धान्त अथवा वाद अपनी सीमाएं बनाकर चलते हैं उनकी दृष्टि संकुचितता, असहिष्णुता, दुराग्रह और प्रतिक्रिया को जन्म देती है। वस्तुतः मार्क्सवाद केवल वर्तमान समाज का आमूल संशोधन ही प्रस्तुत करता है। उसको सब जगह परम सत्य मान लेने पर जीवन की सीमाओं और आत्मा की दृष्टि को भी अवरुद्ध होना पड़ेगा, जो एक दुर्घटना होगी। इतिहास साक्षी है कि वर्ग-हीन समाज के बाद वर्गों की स्थापना हुई और फिर वर्गों के संघर्ष में नये-नये वर्ग उठे। और यह पूँजीवादी अंतिम वर्ग है, जो कई वर्ग-संघर्ष के युगों का परिणाम है। फिर क्या हम मान लें कि यह वर्ग-हीन समाज ही एक दिन एक नये वर्ग के लिए शोषक नहीं बन जायगा? मैं प्रगतिवाद को इसलिए दो धाराओं में ग्रहण करता हूँ—एक समाजवादी प्रगतिवाद और दूसरा साम्यवादी। मैं पहले विचार का पोषक और समर्थक हूँ।

चर्चा की गम्भीरता से विश्राम लेने के लिए मैंने उनसे प्रश्न किया—"सृजन के पूर्व, सृजन के समय तथा सृजन के पश्चात् आपकी मनःस्थिति क्या होती है?"

उन्होंने उत्तर दिया—"इस प्रश्न से पूर्व एक और प्रश्न का उत्तर दे लेना उचित है कि सृजन क्या वस्तु है? जहाँ तक मैं समझता हूँ सृजन अपनी अनुभूतियों का अभिव्यक्तीकरण है। साहित्य में कला अपरिहार्य वस्तु है। वह जहाँ आभरण है वहाँ आवरण भी, जहाँ अंग है वहाँ अंगी भी, जहाँ कारण है वहाँ

कार्य भी। साहित्य का आधार-आधेय सम्बन्ध कला है। जब वह किसी कलाकार द्वारा प्रसूत होती है तब स्रष्टा और सृष्टि इन दोनों का समन्वय हो जाता है। मैं अपने सम्बन्ध में कह सकता हूँ कि जब मुझे लिखने की प्रेरणा होती है तब वस्तु का कंकाल धीरे-धीरे मांसल होने लगता है और लिखने के समय उस वस्त में क्रमागत शिरा, धमनियाँ, पेशियाँ और रक्त-वाहिनी नाड़ियाँ बनने लगती हैं। धुँधला धीरे-धीरे स्पष्ट से स्पष्टतर होता जाता है और वस्तु मूर्त रूप ग्रहण करने लगती है। बीज और प्रस्फोटन के काल तक इतनी तन्मयता बढ़ जाती है कि और कुछ सोच ही नहीं पाता। प्रारम्भ से लेकर अंत तक जब तक वह कृति समाप्त नहीं हो जाती मुझ पर एक नशा-सा छाया रहता है। विचारों की तीव्रता और लक्ष्य की ओर दृष्टि को मैं नहीं भुला पाता। समाप्ति पर नशा उतर जाता है। फिर भी रह-रहकर पढ़ते रहने को जी करता रहता है। वह आनन्द, जो मुझे लिखते समय और लिखने के पश्चात् प्राप्त होता है, जहाँ मानसिक स्वास्थ्य को तृप्ति प्रदान करता है वहाँ शारीरिक सुख भी पहुँचाता है। मेरे लिए तो वह अनिर्वचनीय आनन्द है।

लिखने का मेरा ढङ्ग यह है कि मैं साल में ५-६ महीने पढ़ता हूँ, इधर-उधर की यात्रा करता हूँ और फिर लिखने की बात सोचता हूँ। कविता तो रात-भर लिखता रहता हूँ। पान-तम्बाकू पास होता है, सामने काग़ज, दवात, और कलम रख लेता हूँ। सुपारी काटकर तम्बाकू बनाता हूँ। मुँह में तम्बाकू डाला कि लिखना शुरू किया और फिर तो लिखता ही चला जाता हूँ। चार-पाँच घण्टे लगातार लिखता रहता हूँ। मैं मेज-कुर्सी पर नहीं लिखता। बड़े तकिए पर पैड डालकर लिखता हूँ। थकने पर तकिए के सहारे लेटकर लिखता हूँ। पान को मुँह में रखने से प्रेरणा मिलती है और तम्बाकू, चूना तथा सुपारी से उसमें

तीव्रता आती है। स्वभाव में अव्यवस्था होने से न कागज ठीक से रहता है, न चिट्ठियों का ढंग। इसलिए जो कागज मिल जाता है उसी पर लिखने लगता हूँ। कभी-कभी तो लिफाफे पर ही कविता लिख डालता हूँ। रात को दो बजे लिखने की प्रेरणा होने पर दवात के लिए किवाड़ खटखटाता रहता हूँ। कागज के लिए ट्रंक तक छान मारता हूँ और जब कागज़ नहीं मिलता तो बच्चों की कापी पर ही लिखना शुरू कर देता हूँ। कई बार तो ऐसा होता है कि छत पर सो रहा हूँ और लिखने की प्रेरणा हुई। बस, चुपचाप नीचे उतरा और १-१॥ बजे तक लिखता रहा। लिखने का कोई नियम नहीं है। हाँ, सवेरे नहीं लिखता। जो कुछ लिखा है वह रात के पहले पहर में ही लिखा है। नींद कम ही आती है। आम तौर पर ३-४ बजे सोता हूँ। कविताएं प्रायः एक-दो सिटिंग में लिख डालता हूँ। हाँ, पुस्तक नियम से लिखता हूँ। जो समय निश्चित होगा उसी पर लिखूँगा। समय के व्यवधान में क्रम बिगड़ जायगा। समय पर मेरे हृदय के द्वार खुल जाते हैं और मैं अवश्य लिखता हूँ। नाटक लिखते समय एकान्त छोड़ता हूँ। उस उस समय मैं लोगों की बातचीत और हँसने के ढंग को पढ़ने की चेष्टा करता हूँ। चेहरे के भोलेपन और स्वभाव को देखता हूँ और उसका प्रकृति का अनुमान लगा लेता हूँ। मैं चुपचाप मनुष्य को पढ़ने की चेष्टा करता रहता हूँ और बहुधा किसी मनुष्य के विषय में मैंने जो सोचा है वह ठीक निकला है। इसी से नाटक लिखने की प्रेरणा मिली है। स्वभाव से संकोची हूँ। छिपा रहकर भी सब जानने की इच्छा होती है, इसलिए मौन रहकर सब देखता रहता हूँ। कभी-कभी मैं मनुष्यों के वार्तालाप और हँसने की नक़ल भी करता हूँ। मुझे मनुष्य को देखने में बड़ा मजा आता है। नाटक के पात्र भी मुझे आस-पास ही मिल जाते हैं। बहुत लिखने की प्रेरणा होने पर 'कॉफी-हाउस या सिनेमा में जाकर

उस समय या तो मैंने किताबें पढ़ी हैं या सोचा है।"

"आपके बड़े नाटकों और एकांकियों में दृष्टिकोण का यह अन्तर क्यों हैं कि बड़े नाटकों में ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथाएं हैं और एकांकियों में दैनिक जीवन की घटनाएं ?" मैंने अगला प्रश्न किया।

"बड़े नाटक", उन्होंने कहा, "प्राचीन आदर्श की झलक देने के लिए हैं, जिसके कारण वे ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं पर आश्रित हैं। एकांकी-नाटकों में छोटी-छोटी जीवन की घटनाओं से वर्तमान मनुष्य के चरित्र को अच्छी तरह चित्रित किया जा सकता है। बड़े नाटकों में ऐसी मर्मान्तक घटनाएं दी जाती हैं, जिनमें त्याग और बलिदान पराकाष्ठा को पहुँच गए हों। पर ऐसी घटनाएँ संसार में कम हैं। यदि साधारण घटनाओं को मनोविज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो उनमें भी एक बड़ा कौतूहल और सौंदर्य छिपा रहता है। इसीलिए एकांकी-नाटक बहुत बड़ी घटना का चित्र न देकर जीवन के छोटे-छोटे संघर्षों द्वारा मनोरम बनाए जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त जब से मनोविज्ञान-शास्त्र आया तब से हमको मनुष्य का अध्ययन करने में जितना आनन्द आता है उसके भीतर छिपे हुए द्वन्द्व को प्रकट करने में और भी अधिक सुख मिलता है। यदि हम किसी मनुष्य के हृदय के द्वन्द्व को अच्छी तरह से देख पायं और समझ सकें तो ऐसा लगता है जैसे उसके भीतर आन्दोलित एक संसार को हम देख पा रहे हैं। अक्सर मनुष्य जितना बाहर है उतना ही रहस्य भी है। कदाचित् प्रत्येक मनुष्य एक संसार है, जिसके भीतर हर्ष और शोक अपने-अपने ढंग से द्वन्द्व करते रहते हैं, इसलिए मुझे अपने एकांकी-नाटकों में ऐसा कोई भी पात्र नहीं रखना पड़ा, जिसको मैंने बाहरी आँखों से न देखा हो।"

यह कहकर उन्होंने अपने एकांकी-नाटकों के पात्रों को

गिनाना शुरू किया। उनके पुत्र भी वहाँ उपस्थित थे। भट्ट जी जब किसी नाटक का नाम लेते थे तो उनके पुत्र इस बात की सूचना देते थे कि अमुक पात्र हमारा भी परिचित है। वस्तुतः उनके अधिकांश नाटकों के पात्र उनके घर की परिस्थिति के भीतर रह चुके हैं।

जब आधुनिक नाटक और नाटककारों की अवस्था पर बात चली तो वे कहने लगे—"रंगमंच के अभाव के कारण नाटक प्रौढ़ नहीं हो पाया है, लेकिन फिर भी नाटकीय क्षमता का अभाव नहीं है ऐसा मैं मानता हूँ। कुछ नाटककार विशेष ध्येय को लेकर नाटक लिखते जाते हैं। इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि जीवन के सर्वाङ्ग को लेकर चलने की चेष्टा अभी किसी नाटककार ने नहीं की। नाम लेने की आवश्यकता नहीं है, लेकिन मैं यह देखता हूँ कि इन नाटककारों की अपनी-अपनी सीमाएं हैं।"

"और कविता ?"

"कवियों में नए कवि अच्छा लिख रहे हैं। प्रयोगवादी कविता को तो मैं कविता मानता ही नहीं। वह तो एक ऐसा भानमती का पिटारा है, जिसमें कोई भी प्रतीक अपने में पूर्ण नहीं और जब वे प्रयोग प्रयोगावस्था में है तब उनकी पूर्णता की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। वैसे कौन-सी कविता की ऐसी धारा है, जिसमें प्रयोग न अपनाये गए हों। ऐसा मालूम होता है कि प्रयोगवादी कविता में लेखक अंग्रेजी के नए शब्द रखकर और उनके नए प्रतीक देकर अपनी अभिव्यक्ति देने की चेष्टा कर रहा है। किन्तु जहाँ तक कवित्व का प्रश्न है, वह अपूर्ण ही रहता है। मुझे आज तक एक भी प्रयोगवादी कविता की कोई ऐसी पंक्ति नहीं लगी जो हृदय को झनझना दे। मैं समझता हूँ कि इस प्रकार के प्रयोगों से गद्य की अभिव्यक्ति भ ले ही समृद्ध हो जाय, कविता समृद्ध नहीं हो सकती।"

जब मैंने यह जानना चाहा कि आपको किस कृति को लिख-कर सर्वाधिक सन्तोष अनुभव हुआ है तो उन्होंने बताया—"यह प्रश्न ऐसा है कि किस दिन खाना खाने के बाद आपको बहुत दिनों तक भूख नहीं लगी ? साहित्य के लिए हृदय में एक प्रकार की 'अर्ज' होती है। किसी विशेष अवस्था या घटना को देखकर विशेष सृजन की प्रेरणा होती है और लिखने के बाद उससे उतना ही संतोष भी होता है। जो वस्तु जिस दृष्टिकोण को रखकर लिखी गयी है, यदि वह उस दृष्टि से ही अपने में पूर्ण है तो उसके लिखे जाने पर संतोष तो होना ही चाहिए। किन्तु क्या मैं मान लूँ कि उस साहित्य के लिखे जाने पर ही मुझे सन्तोष प्राप्त कर लेना चाहिए। साहित्य की सफलता में सृष्टा के अतिरिक्त दृष्टा अथवा पाठक का भी भाग है। फिर भी 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' की बात को ध्यान में रखकर यदि आप मुझसे पूछ रहे हैं तो मैं कह सकता हूँ कि कुछ कृतियाँ मुझे पसन्द हैं, यद्यपि मैं सम्पूर्ण रूप से उनसे संतुष्ट नहीं हूँ। मैं मानता हूँ, मेरी रचनाओं में यदि अच्छाई है तो दोष भी हो सकते हैं। फिर भी भावनाट्यों में 'मत्स्यगंधा' 'राधा' 'मेघदूत' मुझे प्रिय हैं। नाटकों में 'आदिम युग' 'कुमार संभव', 'शक-विजय' प्रिय रहे हैं। एकांकी नाटक भी कुछ अवश्य ऐसे हैं जिनकी संख्या अधिक है—जो मुझे अच्छे लगते हैं। 'मानसी' काव्य की रचना करके मुझे संतोष हुआ है। मैं मानता हूँ वह अपने ढंग का अकेला काव्य है। 'युग-दीप' 'अमृत और विष' तथा 'यथार्थ और कल्पना' के भी कुछ गीत मुझे पसंद हैं।"

"इतनी लम्बी साहित्य-साधना में क्या कभी आपका जी भी ऊबा है। यदि हाँ तो उसके क्या कारण रहे है ?"

"पहली बात तो यह कि मैंने अपने को महान् लेखक कभी नहीं माना, फिर भी मुझे अपनी नेकनीयती और साहित्य-साधना

पर गर्व है। संसार में एक वे व्यक्ति होते हैं जिनके कृतित्व से प्रेरणा, उत्साह और जीवन मिलता है, दूसरे वे जो जीवन-समुद्र को भाषा के तटों में बाँध देते हैं और अतिकाल तक अपनी तीक्ष्ण दृष्टि के द्वारा भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान का मन्थन करके संकेत देते रहते हैं और तीसरे वे जो महामानव के मन्दिर की सीढ़ियाँ बनते हैं। मैं तीसरा हूँ। क्षुद्र, अति क्षुद्र लेखक मैं तो साधक हूँ सिद्ध नहीं; जिज्ञासा हूँ ज्ञान का अन्त नहीं हूँ। मुझमें सदा यही जिज्ञासा रहती है कि यथासाध्य अपने साहित्यिक दोषों का परिमार्जन करता रहूँ। मैं मानता हूँ कि आलोचक का अपना दृष्टिकोण है और उसकी अपनी त्रुटियाँ भी। हिन्दी में ऐसे आलोचक बहुत कम हैं जो विशेष विचार-धारा और 'परस्परम् प्रशंसन्ति' के रूप से परे हों। मैं ऐसे आलोचकों को जिनमें ऊपर की बातें नहीं हैं, हिन्दी-साहित्य के बहुत बड़े हितू विवेचक मानता हूँ। काश, उनकी संख्या अधिक होती। पर हंस तो कम ही होते हैं न !

इन पिछले तीस वर्षों में, जब से मैंने लिखना आरम्भ किया है, मुझे उबा देने वाली बात का अनुभव नहीं हुआ। मेरा विश्वास है, यदि मेरी लिखी हुई कोई चीज़ अच्छी होगी तो आज नहीं कल लोग उससे लाभ उठायंगे। काल सबसे बड़ा आलोचक है। जो वस्तु साधारण है काल उसे छाँटकर फेंक देगा। संस्कृत में एक कहावत है कि जीवित लेखक की आलोचना नहीं करनी चाहिए। उसका अर्थ यही है कि जो काल की छलनी में से निकल जाय-पार हो जाय वह हीरा, बाकी पत्थर।"

जब मैंने उनसे यह पूछा कि क्या साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है और क्या आप साहित्य को एक पेशा मानते हैं ?"

उन्होंने कहा—"हाँ साहित्योपवीजी होकर जिया जा सकता है, पर आज नहीं कल। रही साहित्य को पेशा मानने की बात सो आज तो ऐसा ही दिखाई देता है कि वकालत, डाक्टरी, व्यापार

की तरह यह एक पेशा है। किन्तु पेशा जीवन-निर्वाह के लिए होता है न ? फिर तब तक वह पेशा बना रहता है जब तक आदमी उस व्यापार के द्वारा जीवन-निर्वाह करता है। तो जैसे वह एक सीमित काल के लिए होता है यानी मनुष्य के जीवन तक, वैसे ही उसका व्यापार भी अस्थायी होगा। तो क्या यह मान लिया जाय कि पेशे के तौर पर किया गया मनुष्य का साहित्यिक काम मनुष्य जाति को इतना बड़ा मार्ग दिखा सकेगा कि वह पेशा न समझने वाले कालिदास, शेक्सपियर, वाल्मीकि, व्यास या मार्क्स और शंकर की तुलना में बैठ सके ? निश्चय ही साहित्य को पेशा मान लेने पर तप और महान् साधना को धक्का लगेगा। मेरा विश्वास है साहित्य तप, साधना और शत-शत जीवन की अनुभूतियों का फल है। वह तो महान् आत्मा में महान् की देन है, यदि उसे वैसा ही साहित्य माना जाय तो। अन्यथा वह 'व्हीलर' के स्टाल पर बिकने वाली मासिक पत्रिका के समान है, जो यात्रा-भर साथ देने के बाद वहीं फेंक देने वाली वस्तु हो जाती है और पेशा मान-कर लिखा जाने वाला साहित्य भी उतना ही मूल्य रखता है।"

अन्त में हिन्दी-साहित्य के भविष्य के विषय में अपनी सम्मति देते हुए वे बोले—"जो सब देशों के साहित्यों का भविष्य होगा वही हमारे साहित्य का भी होगा। यदि आप इसे सूत्र न समझें, तो मैं कहूँ कि मानव-जीवन और साहित्य एक होकर चलने वाले हैं। पहले समय में धर्म अंगी और साहित्य अंग था अब अन्य शेष अंग होंगे और साहित्य अंगी। जैसे-जैसे मनुष्य समाज की चेतना परिष्कृत होती जायगी, वैसे-ही-वैसे वह साहित्य धर्म, समाज, राजनीति व्यक्ति का रूप ग्रहण करने चले जायंगे। यहाँ तक कि समाज, धर्म, नीति, अर्थशास्त्र और विज्ञान भी साहित्य में अंग-भूत होंगे। मेरा विश्वास है कि साहित्य मनुष्य की स्थिति के साथ बदलते रहने के कारण स्वभावतः अन्य सभी प्रकार के

विश्वासों से अधिक मार्ग-द्रष्टा होगा। साहित्य सबका है। सबकी चोज सबके लिए होती है। ऐसी अवस्था में कल के साहित्य की अभिव्यक्ति मनुष्य-मात्र के हृदय की अभिव्यक्ति होगी। हाँ, इतना अवश्य है कि वाद विशेष से अभिभूत होने के कारण साहित्य का रूप कभी-कभी अवरुद्ध हो सकता है। साहित्य आखिर मनुष्य जाति की विचार-धारा एवं चिन्तन का परिष्कृत संस्करण ही तो है। उसे निश्चय ही मनुष्य की परिस्थितियों के साथ बदलना होगा। किन्तु जीवन की व्यापकता के साथ मनुष्य के भीतर जो चिर और शाश्वत शक्ति समुच्चय है उसको प्रवाहित कर देने वाला साहित्य प्रोपैगैण्डा होकर भी उससे दूर रहता है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि साहित्य मनुष्य जाति का जहाँ सही मार्ग-दर्शक है वहाँ वह उसका जीवन भी है। जीवन जैसे जीवनीय से भिन्न नहीं होता इसी प्रकार साहित्य को समझना चाहिए। काश, साहित्य के नैसगिक सौंदर्य की तरह मनुष्य भी भीतर-बाहर से निश्छल होता! मनुष्य की बुद्धि के साथ विवेक का होना, कल्याण-भावना का होना अनिवार्य है।"

जिस समय हमने यह साहित्य-चर्चा समाप्त की उस समय रात के साढ़े बारह बजे थे। निस्तब्ध रात्रि थी और एकान्त में भट्ट जी भी 'मूड' में थे। सोने के पहले तक उन्होंने अपने आस्तिक से नास्तिक होने और फिर दर्शनों के अध्ययन से धीरे-धीरे आस्तिक होने की मनोरंजक कहानी सुनाई। सबसे पते की बात कविता और नाटक की विशेषता के सम्बन्ध में थी। उन्होंने कहा कि कविता की विशेषता यह है कि परिस्थिति विशेष में कविता की पंक्ति को बीस बार दुहराया जा सकता है और नाटक की विशेषता यह है कि वह अपना प्रभाव अपढ़ व्यक्तियों तक पर छोड़ता है। अन्य धाराओं से कविता और नाटक को अलग करने के लिए उनकी यह बात कितनी सत्य है, यह सहज ही

समझा जा सकता है। उनके स्वस्थ चिन्तन और स्वस्थ व्यक्तित्व का दुहरा प्रभाव गहरी छाप छोड़ता है। साहित्य के विषय में सामाजिक दायित्व को दृष्टि में रखकर सोचने का उनका निजी ढंग है। इसके अतिरिक्त घर-बाहर सर्वत्र जीवन में निश्छलता और गाम्भीर्य के साथ-साथ युवकोचित उत्साह उनकी एक ऐसी विशेषता है, जो सदा उनके प्रति मन में आदर का भाव बनाए रखने को विवश करती है।

८

सुश्री महादेवी वर्मा

यद्यपि मैं पहले ही एक पत्र लिख चुका था और उसमें दिन तथा समय का उल्लेख भी कर चुका था, तथापि जब मैंने नौकरानी द्वारा अपनी चिट भिजवाई तब मुझे यह भय हुआ कि कहीं श्रीमती वर्मा मुझे निराश न कर दें। ऐसा होना स्वाभाविक था। महिला-विद्यापीठ (प्रयाग) का इतना भारी काम रहता है कि उन्हें किसी समय भी अवकाश नहीं मिलता—विद्यापीठ के बन्द होने पर भी वह उसी की चिन्ता में व्यस्त रहती हैं। फिर उस समय तो डेढ़ ही बजा था। विद्यापीठ में पढ़ाई हो रही थी। ऐसे समय महादेवीजी ही नहीं, किसी भी प्रधानाचार्या से विद्यापीठ के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर बातचीत के लिए समय माँगना दूरदर्शिता नहीं कही जा सकती। लेकिन मुझे अपने समय का भी ध्यान था। यही कारण है कि मैं जब विद्यापीठ में पढ़ाई के समय ही वहाँ पहुँच गया तो चिट भेज ही दी। चिट भेजकर मैं असमंजस के झूले में झूल रहा था कि नौकरानी द्वारा मुझे भीतर जाने की सूचना मिली। उस समय वह क्लर्क को कुछ समझा रही थीं। मुझे जान पड़ा कि मैंने ऐसे समय में आकर अच्छा नहीं किया, परन्तु उस समय इस अनुभव का होना व्यर्थ-सा था; क्योंकि तब तक मैं उनका

आदेश पाकर कुर्सी पर बैठ चुका था।

बैठने के बाद उन्होंने सबसे पहले मुझसे जो प्रश्न किया, वह था ठहरने के सम्बन्ध में। एक दिन पहले ही उन्हें मेरा पत्र मिला था, अतः मेरे ठहरने के सम्बन्ध में जानने के लिए वह चिन्तित थीं। उनकी उद्विग्नता को दूर करने के लिए मैंने जब यह कहा कि मैं निरालाजी के यहाँ ठहरा हूँ तो वह बोलीं—"तब तो आप घर ही में ठहरे हैं।" मैं उनके इस वाक्य पर कुछ देर तक सोचता रहा कि उन्होंने यह क्यों कहा। निरालाजी के प्रति उनके हृदय में इतना सम्मान है, यह मैं नहीं जानता था। इसीलिए मैं उनके इस वाक्य को सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। परन्तु मेरी यह स्थिति अधिक देर तक न रही; क्योंकि उन्होंने गद्गद् कण्ठ से निरालाजी की प्रशंसा करते हुए कहा—"ऐसी (निरालाजी के समान) प्रतिभा हिन्दी में नहीं है। निरालाजी का रहन-सहन निम्नतम स्तर के भारतीयजन का है, और प्रतिभा ऐसी है कि क्या कहा जाय? उन्होंने हिन्दी में बहुत-कुछ लिखा है; पर हिन्दी में उनकी कद्र नहीं हुई। इसका कारण भी स्पष्ट है। निरालाजी साधक हैं और हिन्दी में साधक होना—प्रतिभाशाली होना—मानो छोटा होना है।"

"लेकिन साधक को इस बात से कोई सरोकार नहीं, वह तो साधना करता चला जाता है।"—मैंने कहा।

"परन्तु आप यह तो देखिये"—महादेवीजी कुछ गम्भीर होकर बोलीं—"हिन्दी के लेखकों का दुर्भाग्य भी तो कम नहीं है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन वाले कहते हैं कि हिन्दी के लेखक व्यावहारिक नहीं है। आप ही बताइए कि व्यावहारिकता के लिए लेखक क्या करे? वह तराजू लेकर तो बैठेगा नहीं कि डण्डी मार दे और झूठ बोले। यदि व्यावहारिक होने का यही अर्थ है तो हम लोग अव्यावहारिक होकर ही लड़ते-मरते

जी जायंगे ; पर हिन्दी वालों की उस व्यावहारिकता को हम नहीं अपना सकते। फिर आप देखते हैं कि स्वतन्त्र साधकों को तो कोई पूछता ही नहीं। निरालाजी कहीं प्रोफेसर होते या ऊँचे पद पर होते तो जरूर बड़े आदमी होते और लोग उनकी पूछ करते ; परन्तु चूँकि वह साधक हैं, इसलिए कुछ नहीं हैं। तभी तो उन्हें 'भारत' तक में कविता प्रकाशित करवाने स्वयं जाना पड़ता है ! यही क्यों, कविता पर उन्हें ५) या ७) ही मिलते हैं ! इससे पता चलता है कि हिन्दी में कवियों की क्या स्थिति है। सम्मेलन उन्हें अव्यावहारिक कहकर ठुकराता है और पत्रकार स्वयं कविता तक नहीं मँगा सकते !"

वह इतना कहते-कहते थोड़ी देर के लिए कुछ रुकीं, मानो संगति मिलाने के लिए विचारों को शृंखलाबद्ध कर रही हों, और फिर कहने लगीं—"हिन्दी में तो रीडरबाजों का जोर है। आप तो जानते हैं कि एक प्रोफेसर एम० ए० से लेकर 'अ' दर्जे तक की पुस्तक लिखता है और मजे की बात यह है कि वह साहित्यिक भी है, और साधक भी !"

और, बात प्रकाशकों पर पहुँची। प्रकाशकों के बारे में उनकी सम्मति वही है, जो किसी भी भुक्त-भोगी लेखक की हो सकती है। उनकी बात का सारांश था कि प्रकाशक संस्करण-पर-संस्करण छापते जाते हैं और हिसाब माँगने पर कहते हैं कि अभी ७०० कापियाँ हैं, अभी ५०० ; फिर कैसे नया संस्करण छपाया जाय ! न वे सन् डालते हैं, न संवत् और न संख्या ही, कि कितनी छपीं !

मैं यह समझता था कि महादेवीजी अपनी कविता की भाँति ही कोमल और सुकुमार भावनाओं के बीच विचरण करने वाली द्रवण-शीला देवी होंगी, जिनका वर्तमान संघर्ष और आन्दोलन से बहुत कम वास्ता होगा; परन्तु देश के

राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और साहित्यिक परिवर्तनों पर वह कितनी गहराई से विचार करती हैं, इसका पता मुझे तब चला जब उन्होंने रेडियो और हिन्दुस्तानी के साथ गांधीजी की इस बात की आलोचना की कि जो उर्दू नहीं जानते वे देश-भक्त नहीं हैं! उन्होंने कहा—"मैं गांधीजी के व्यक्तित्व के प्रति अत्यधिक श्रद्धा करती हूँ, लेकिन कभी-कभी वह ऐसी बात कहते हैं, जो बेतुकी होती है। हिन्दुस्तानी के प्रति उनका आग्रह भी कुछ ऐसा ही है। उन्होंने हिन्दुस्तानी-तालीमी-संघ में हिन्दी वाले किसी आदमी को नहीं रखा, सब उल्टे-सीधे आदमी हैं। आज हिन्दी का युग आया है—इसका वह अनुभव ही नहीं करते। वह क्या करें, हम सभी अन्ध-विश्वासी हैं। इसीलिए तो पण्डे, पुजारी और महन्त जिन्दा हैं। यही गांधीजी के साथ हुआ है। अब मुझे प्रतीत होता है कि हिन्दुस्तानी प्रचलित होगी और हिन्दी-लेखकों को संघर्ष-पर-संघर्ष करने पड़ेंगे। मुसीबत हम लोगों की है। पिछले खेवे वाले लोग हमारी बुराई करते थे और अब तक लाछन लगाते हैं—साहित्य पर ही नहीं, जीवन पर भी। परन्तु हम कहते हैं कि हमारे जीवन का क्षण-क्षण देखिए, और लेखा रखिए, तब आपको पता चलेगा कि आप हमारे लिए जो धारणा बना बैठे हैं वह ठीक नहीं है। नये खेवे वाले अब समझौता कर रहे हैं और वे हमें निरा काल्पनिक कहकर हमारी साधना पर पानी नहीं फेरते। उनमें बुद्धि का बल है। यह संतोष का विषय है। तब भी हमारी स्थिति बड़ी विचित्र है; पर संघर्ष हमारा प्राण है और वह हमें करना है। आगे भी करेंगे। बिना संघर्ष जिन्दा कौन रहा है? जीवित रहने के लिए संघर्ष करना हमारे विद्रोही स्वभाव की विशेषता है। यह विद्रोह हमने पढ़ते-पढ़ते ही सीख लिया था। मैं महिला-विद्यापीठ में उसी विद्रोह को क्रियात्मक रूप दे रही हूँ। इस

क्रियात्मक जीवन में मुझे व्यस्त रहना पड़ता है और मैं उस व्यस्तता में ही जीवन का आनन्द खोजती रहती हूँ। मुझे प्रतिक्षण इस बात की चिन्ता रहती है कि हम इस हलचल में ही शान्ति का समाधान खोजें और अशान्ति को मिटायें।"

इतना कहते-कहते वह रुक गईं। मैंने देखा, वह थक गई हैं। उस थकान के अनुभव में भी उनकी स्वच्छ-निर्मल आँखें स्वर्गीय भावना से चमक उठी हैं, मानो यह आत्मा जो कुछ कह रही है, वह उसके अन्तरतम की ध्वनि है। मुख उनका कुछ पीला-पीला-सा था, जो बेरी-बेरी रोग के हाल के प्रभाव को व्यक्त कर रहा था। पर उस पीलेपन में भी उनकी साधना की झलक स्पष्ट थी। मैंने और अधिक कष्ट देना ठीक न समझा, और दूसरे दिन प्रातःकाल घर पर मिलने की स्वीकृति लेकर मैं विदा हुआ।

यों तो मैं पिछले दिन ही हिन्दी-साहित्य की ही नहीं विश्व-साहित्य की इस निराली प्रतिभा के दर्शन करके धन्य हो गया था और उससे जो वार्तालाप हुआ था उससे तृप्त भी हो गया था; लेकिन जिस प्रश्न-तालिका को लेकर मैं हिन्दी के कलाकारों से मिलने निकला था, उसके एक भी प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं मिला था। इसलिए मैं दूसरे दिन प्रातःकाल उनके यहाँ प्रश्न-ता लिका के साथ पहुँचा। विद्यापीठ की चहार-दीवारी के प्रवेश-द्वार के सामने ही उनकी छोटी-सी कोठी है। उसका बागीचा भी छोटा-सा ही है। मुझे फूल-पत्तों का कम ज्ञान है, इसलिए मैं यह नहीं बता सकता कि उन फूलों में किस-किस नाम के फूल थे। दूसरी बात यह है कि युग की विभीषिका के कारण आदमी के बाद ही प्रकृति मेरी दृष्टि में आती है। इसलिए भी उस बगीचे के पेड़-पौधों का काव्यात्मक वर्णन मैं नहीं कर सकता। इतना होने पर भी मैं यह अवश्य कगाहूँ कि उस बगीचे

के पेड़-पौधों में सुरुचि और शालीनता का सामंजस्य अवश्य रखा गया था, जो बरबस आँखों को अपने सौन्दर्य के प्रति आकर्षित करता था। मैं वनस्पति-ज्ञान से अपरिचित होकर भी उसके सौन्दर्य को देखता रह गया और कुछ समय के लिए अपने को भूल गया।

मैं आश्चर्य-चकित होकर बगीचे के बीच में खड़ा था कि इतने में ही मुझे एक वृद्धा दिखाई दी, जो दासी जान पड़ती थी। मैंने उसे अपने नाम की चिट देकर भीतर भेजा। वह अविलम्ब मेरा संदेश देकर बाहर आई और मुझे 'ड्राइंग-रूम' में बैठने के लिए कहकर चली गई।

ड्राइङ्ग-रूम में 'सोफा-सेट' पड़ा था। बीच में एक ऊँची मेज थी, जिस पर कुछ मूर्तियाँ रखी थीं। कोनों में भी मूर्तियाँ और शिल्प-कला के कुछ नमूने रखे थे, जिनमें बुद्ध और कृष्ण के साथ गांधीजी को भी स्थान दिया गया था। दीवारों पर भी चित्र बनाये गए थे, जिनमें बौद्धकालीन छाया थी। उस कमरे में कला—चित्र कला तथा शिल्प-कला—दोनों में प्रतियोगिता-सी हो रही थी और वे दोनों इतनी घुली-मिली थीं कि किसे तरजीह दी जाय, यह निश्चय करना असम्भव था। चित्र-कला और शिल्प-कला के रेखा और तराश के विधानों से किंचित् परिचय न रखने पर भी मेरा मन उनकी मुद्राओं में खोने लगा और उनकी संरक्षिका के प्रति विशेष श्रद्धा-भाव से भरने लगा कि इतने में खद्दर की साड़ी में वेष्टित वह भव्य मूर्ति मेरे सम्मुख आ गई, जिसके व्यक्तित्व के प्रकाश से चित्र-कला और शिल्प-कला में कवित्व की सृष्टि हो गई थी। मैंने अभिवादन के साथ उसका स्वागत किया और गंभीर मुखमुद्रा से विकीर्ण होने वाले प्रकाश को अपलक देखने लगा। अधिक देर तक मौन असंभव था और अनावश्यक भी, इसलिए अपनी प्रश्न-तालिका उन्हें देते हुए मैंने

विनम्रता से उसके उत्तर लेने चाहे।

प्रश्न-तालिका को हाथ में लेते ही जब उन्होंने कहा कि मैं इस प्रकार के प्रश्नों के उत्तर देने की अभ्यस्त नहीं हूँ और न मुझे यह बन्धन ही स्वीकार है, तब मैं आपसे सच कहता हूँ कि मैं अप्रतिभ-सा हो गया; क्योंकि मुझे ऐसी आशा न थी। मैं जिस उल्लास का अनुभव कर रहा था, वह समाप्त-सा हो गया। लेकिन उस समय मैंने बड़ी सावधानी से काम लिया और स्वतंत्र बातचीत आरम्भ कर दी। बातचीत आरम्भ करने के साथ ही मैंने यह निश्चय कर लिया था कि प्रश्न-तालिका की पूर्ति भी साथ-साथ होनी चाहिए। इसलिए मैंने इस ढङ्ग से बातचीत प्रारम्भ की कि बीच में देवी जी को कई बार यह कहना पड़ा कि आप तो प्रश्नों के उत्तर भी लेते जा रहे हैं। पर मैं मौन रह जाता था। अस्तु।

पहले मैंने उनसे पूछा—"आप साहित्य-सम्मेलन में कभी सम्मिलित नहीं होतीं, इसका क्या कारण है? आप-जैसे वर्तमान हिन्दी के उन्नायक कवियों के अभाव में सम्मेलन—विशेषकर कवि-सम्मेलन--फीका ही रहता है।"

उन्होंने सरलता से उत्तर दिया—"मैं तो केवल इन्दौर-कवि-सम्मेलन में उपस्थित थी। सेकसरिया-पुरस्कार मिला था। गांधी जी सभापति थे। वह काफी सफल सम्मेलन था और दिल्ली की असफलता पर उसकी सफलता प्रसन्नता की बात थी, लेकिन तब से दस-ग्यारह साल हो गए—मैं प्रण कर चुकी हूँ कि कभी कवि-सम्मेलनों में न जाऊँगी और न मैं जाती ही हूँ। बात यह है कि सम्मेलन में नैतिकता का अभाव है और नई पीढ़ी को उसका शिकार होना पड़ता है। पुरानी परम्परा के पोषक अपने हृदय-परिवर्तन की ओर ध्यान नहीं देते। उनका तो रोग ही ला-इलाज है। ऐसी स्थिति में दो ही मार्ग हैं। या तो कवि-सम्मे-

लन का पूर्ण बहिष्कार किया जाय और उससे असहयोग किया जाय, या फिर एक नया संगठन हो, जो उनकी अपेक्षा अधिक संयत और नियंत्रित हो, और मुझे तो नई पीढ़ी से आशा है कि वह यह सब कर सकती है; क्योंकि उसमें अधिक ईमानदारी और सचाई है, और उसे यदि समझाया जाय तो वह मान भी जाती है। उस पीढ़ी के लोगों में उत्साह भी बहुत है और काम की लगन भी। वे यदि चाहें तो ऐसा हो सकता है। फिर एक बात और भी होनी चाहिए कि जो नये कवि या कवयित्रियाँ आती हैं, उनको वातावरण का ज्ञान कराने के लिए परिस्थिति से परिचित करा देना चाहिए। यह तो हुई सुझाव की बात। वैसे यदि आप पूछें तो मैं कहूँगी कि साहित्य-सम्मेलन में कवि-सम्मेलन अधिक महत्त्व की वस्तु नहीं समझा जाता। सम्मेलन की समाप्ति पर थकान मिटाने का एक साधन वह बन गया है। नाच-गाना न सही, वही सही। सभापति उसमें उपस्थित नहीं रहता, स्वतन्त्र होकर लोग चाहे जो करते हैं। कोई व्यवस्था नहीं होती। इन सब बातों के कारण उसका रूप ही बिगड़ा रहता है, और सुधार का यदि कोई उपाय है तो यही कि सम्मेलन का सभापति उसमें उपस्थित रहे और उसे व्यवस्था-पूर्वक चलाय।"

मैंने उनसे सहमत होते हुए जब नये संगठन के विषय में पूछा कि क्या आप इस पर विश्वास करती हैं तो वह कहने लगीं—"प्रगतिवादियों ने हमारा बड़ा विरोध किया और वे एक संकीर्णता में बँध गए। हमने उनसे कहा भी, लेकिन उन्होंने तब नहीं माना। मेरा तो विश्वास था कि वे एक दिन अपनी भूल स्वीकार कर लेंगे, और आज वही हो रहा है। हम लोग एकदम अध्यात्म को लेकर चलते हैं, वे एकदम यथार्थ को। हममें उनमें अन्तर केवल इतना ही है कि अध्यात्म में तो एक-दूसरे ढंग से यथार्थ का समावेश हो भी जाता है,

पर यथार्थ में अध्यात्म का कहीं समावेश नहीं। फिर जो वेदान्तवादी है उसे सामान्य भूमि से अलग करना भी कठिन है। इसके साथ ही, सच्चा कलाकार लोक-हृदय को पहचाने बिना नहीं हो सकता, और जो लोक-हृदय को पहचानता है वही अमर होता है--जनता उसको जीवित रखती है। अध्यात्मवादी भी एक विश्व-व्यापी दर्शन को मानने वाले हैं और उनमें भी उतनी ही सर्वभौमिकता है जितनी यथार्थ-वादियों या प्रगतिवादियों में : क्योंकि जो तर्क प्रगतिवादी देते हैं वही अध्यात्मवादी भी। लेकिन तर्क से कोई किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकता। फिर साहित्य को विविधता से पूर्ण होना ही चाहिए। यदि कोई एक किसान की पसलियों का चित्र खींचने वाली १००० कविताएं लिखे तो उसमें एक-रसता आ जायगी और वह साहित्य की विविधता से दूर की बात होगी। मैंने स्वयं बंगाल के अकाल पर ६० चित्र बनाये हैं और समय मिलने पर आज भी बना सकती हूँ ; पर इसके साथ यह भी याद रखने की बात है कि घोर भुखमरी और अकाल में भी किसी की प्यारी पुत्री विदा हुई होगी, किसी का प्यारा पति मरा होगा और किसी की प्रिय पत्नी चल बसी होगी। क्या आप इनकी उपेक्षा कर सकते हैं ? करेंगे तो युग के साथ आप कहाँ चलेंगे ? फिर मैं कहती हूँ कि जब हमारा देश स्वतन्त्र हो जायगा और कोई पसली वाला किसान न रहेगा तब आप क्या करेंगे ? तब क्या आप स्वस्थ किसान के आनन्द के गीत नहीं गायंगे ? रूस में आज यही तो हो रहा है। फिर वहाँ प्रत्येक कलाकार को सभी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त हैं। उपन्यास-कार यदि चाहे तो वह भ्रमण के लिए जहाँ चाहे जा सकता है। चित्रकार को भी अच्छी-से-अच्छी सुविधा दी जाती है। वस्तुतः वहाँ तो इज्जत ही कलाकार की सबसे अधिक होती है। और,

हमारा देश गुलाम है, इसमें इतना ही क्या कम है कि लेखक लिखने से विरत नहीं है। प्रगतिवाद से समन्वय होगा, विविधता को वे अपनायंगे—ऐसा मेरा विश्वास है।"

नवीन विचारों के प्रति अध्यात्म की देवी महादेवीजी की इस प्रवृत्ति को देखकर मैं आनन्द से भर गया और तब मुझे पता चला कि महान् साधक कभी संकीर्णता से घिरकर नहीं रह सकता। मैं उनके जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ जानना चाहता था। अतः मैंने उनसे पूछा—"आपका बचपन किन परिस्थितियों बीता और उन्होंने आपके कलाकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई ?"

महादेवी जी जब बात करती हैं तब इतनी बात करती हैं कि विभिन्न विषयों पर धारावाहिक रूप से वह बोलती चली जाती हैं और ऐसा लगता है मानो सब-कुछ उनकी बुद्धि के अधिकार में है। फिर यह तो उनके जीवन की बात थी। वह कहने लगीं—"मेरा बचपन बहुत अच्छा बीता। इसका कारण यह है कि हमारे यहाँ कई पीढ़ियों से कोई लड़की नहीं थी। न मेरे बाबा के कोई बहन थी, न मेरे पिता के। मैं अपने बाबा के तप का फल हूँ। वह दुर्गा के उपासक थे और जब मैं पैदा हुई तो वह बड़े प्रसन्न हुए कि चलो, एक लड़की तो पैदा हुई। सम्पन्न परिवार था, इसलिए अभाव कोई था नहीं। सभी प्रकार की सुविधाएं प्राप्त थीं। शिक्षा के प्रति विशेष रुचि हमारे परिवार की दूसरी विशेषता थी। माता जी ब्रजभाषा के पद बनाती थीं और बहुत सुन्दर। मीरा के पद तो वह बहुत गाती थीं। वह अत्यधिक धार्मिक थीं और पूजा-पाठ उनका प्राण था। मेरे संस्कार भी वही हैं। आरम्भ में तो मैंने पद बनाना आरम्भ किया, और मैं यह कहूँगी कि पद बनाने में मुझे सफलता भी काफी मिली। फिर लिखना भी मैंने ब्रज भाषा में ही आरम्भ किया।

श्री गणेश समस्या-पूर्ति से हुआ। वह भी एक पंडितजी की कृपा से। वह मुझे पढ़ाने आते थे। उन्होंने मुझे समस्या-पूर्ति सिखाई। वह पढ़ाने आते और कोई समस्या दे जाते। मैं दिन-भर उसकी पूर्ति करती रहती थी। उसके बाद मैथिलीशरणजी की कुछ रचनाएं पढ़ीं तो समझ में आया कि जिस भाषा में हम बोलते हैं, उसमें भी कविता हो सकती है। यह सोचकर मैंने खड़ी बोली में कविता करना आरम्भ कर दिया और गुरूजी को दिखाया। वह बोले—'अरे, यह भी कोई कविता है, कविता तो ब्रज भाषा में ही हो सकती है।' लेकिन मैं चोरी-चोरी यह सब करती रही। पिंगल-शास्त्र देखकर हरिगीतिका छन्द भी ढूँढ़ निकाला और उसी ढंग पर लिखना आरम्भ किया। एक खण्ड-काव्य भी लिखा, जिसकी कथा मुझे याद नहीं है। न जाने कहाँ पड़ा होगा। छन्द हरिगीतिका है और हू-बहू गुप्तजी से मिलता-जुलता है। वह आंशिक रूप में उन दिनों छपा भी था। लेकिन उसके बाद छोटे-छोटे गीत लिखने की प्रेरणा मुझे स्वतः हुई। उसमें करुणा की अधिकता इसलिए है कि बुद्ध का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। मैं बचपन में 'भिक्खुणी' होना चाहती थी और आज भी वह लालसा ज्यों-की-त्यों बनी है। लेकिन अपने इस जीवन से भी मुझे पूर्ण सन्तोष है। 'भिक्खुणी' बनकर मैं पूर्ण स्वतन्त्र हो जाती; पर आज भी मैं कम स्वतन्त्र नहीं हूँ। जो मैं चाहती हूँ, वही तो होता है। मेरी जीवन-यात्रा बड़ी सुखद रही है।"

वह चुप होने जा रही थी कि उनकी पालतू बिल्ली आई और मेरे शाल में आकर चुपचाप बैठ गई—बिना किसी झिझक या संकोच के। मैं आश्चर्य-चकित हूँ और कुछ कहना चाहता हूँ, इसे देखकर वह स्वयं बोलीं—"इस घर में बिल्ली, कुत्ते, हिरन, सभी हैं, और सब वैर-विरोध बिसारकर रहते हैं।

मेरी यह बिल्ली भी संकोच से रहित होकर इसीलिए आपके पास आ गई है।"

बिल्ली का प्रसंग समाप्त होते ही मेरा दूसरा प्रश्न था—"वे देशी-विदेशी लेखक कौन-से हैं जिन्हें आप अधिक पसन्द करती हैं।"

उनका उत्तर था—"विदेशी लेखक मुझे कोई पसन्द नहीं है। शेली, बायरन आदि 'फिन्-फिन्' करते नजर आते हैं। उनमें मुझे कुछ नहीं मालूम पड़ता मेरा। सर्वप्रिय ग्रन्थ तो 'ऋग्वेद' है। उसकी प्रार्थनाएं मुझे बहुत प्रिय हैं। मरुत के गीत अत्यन्त सुन्दर लगते हैं, फिर उषा के गीत तो अच्छे हैं ही। मैंने उन गीतों में से कुछ के अनुवाद भी किये हैं। उनके बाद मुझे 'उपनिषद्'प्रिय हैं। 'गीता'को मैं अधिक पंसद नहीं करती। कारण कृष्ण जिस क्रान्ति के सूत्रधार थे, उसी में स्वयं वह क्रान्ति गल गई। उन्होंने हिंसा का आदेश दिया और मेरे लिए तो बुद्ध की अहिंसा प्राण है। अतएव उसे मैं कहाँ से पसन्द करूँ? हाँ, कृष्ण का महत्त्व इतना ही है कि महापुरुष होकर भी—राजवंशी होकर भी उन्होंने बन्दी-गृह में जन्म लिया, अहीर के घर में पले। मुझे यहाँ वह सामान्य जीवन की भूमि पर उतरते प्रतीत होते हैं। बस, उनका यही जीवन प्रिय है। संस्कृत-कवियों में कालिदास का 'रघुवंश' मुझे प्रिय है और उसका भी कुछ अनुवाद मैंने किया है। लेकिन अपेक्षाकृत भवभूति का 'उत्तररामचरित' और अधिक प्रिय है। हिन्दी में तुलसीदासजी की 'रामायण' तो बचपन में बार-बार पढ़ी है। पढ़ी क्या है, रात में बाबा को पढ़कर सुनाया करती थी और जब तक सो न जाते थे, यही क्रम चलता था। बड़ी होने पर शर्म के मारे वह छोड़ दी। पर फिर भी मुझे वर्ण-व्यवस्था वाला व्यक्ति अधिक पसन्द नहीं है। गोस्वामीजी की 'पूजिय विप्र सील-गुन-हीना' वाली बात मेरी

समझ में नहीं आती। मैं जन्मना ब्राह्मण की कल्पना ही नहीं करती। और, ब्राह्मण का जो शास्त्रीय अर्थ है उस दृष्टि से तो संसार में सर्वत्र ब्राह्मण मिल जायंगे। मैं तो तुलसी की अपेक्षा कबीर को अधिक पसन्द करती हूँ। इस प्रकार विदेशी प्रभाव मेरे ऊपर बिलकुल नहीं है। वह हो भी कैसे सकता है? बचपन से तो संस्कृत पढ़ती रही और अंगरेजी कवियों को पढ़ने से पहले ही 'नीहार' मैं लिख चुकी थी। वह मेरे ७-८-९ वें दर्जे की रचना है।"

मैं देख रहा था कि इस समय वह इस स्थिति में हैं जो कुछ पूछूँगा, बताती जायंगी; इसलिए मैंने अगला प्रश्न कर दिया—"छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं?"

"छायावाद और रहस्यवाद के सम्बन्ध में"—उन्होंने कहा—"इतनी जल्दी कुछ नहीं कहा जा सकता। वह तो विस्तृत विवेचन की चीज है। फिर भी 'विवेचनात्मक गद्य' ⊛ में इसका विवेचन मैं कर चुकी हूँ। थोड़े में छायावाद को रहस्यवाद की प्रथम सीढ़ी मानती हूँ। वह 'रोमांटिसिज्म' से अलग है; क्योंकि 'रोमांटिसिज्म' की परिणति कहीं नहीं हुई, पर छायावाद की परिणति रहस्यवाद में होती है। रोमांटिक कवियों में भी अकेले 'वर्ड्सवर्थ' में आप कुछ सौन्दर्य अवश्य पाते हैं, बाकी में वह वस्तु भी नहीं है।"

मैंने फिर उनसे पूछा—"आपको कौन-सी रचना लिखकर सर्वाधिक सन्तोष हुआ है?"

कुछ देर रुककर वह बोलीं—"मुझे अपनी कोई रचना लिखकर सन्तोष नहीं हुआ। सन्तोष होना असंभव बात है; क्योंकि

⊛ महादेवी जी के साहित्यालोचना-सम्बन्धी लेखों का संग्रह।—लेखक

यदि सन्तोष हो जाय तो कोई कलाकार फिर लिखे ही क्यों? यदि ऐसा होता तो कोई चित्रकार केवल एक चित्र बनाकर ही चुप हो जाता। वस्तुतः बात तो यह है कि अनुभूति को शब्दों द्वारा व्यक्त करना अत्यन्त कठिन है। कलाकार बार-बार चेष्टा करता है और असफल होता है। इसीलिए उसे सन्तोष नहीं होता। फिर मुझे कोई गीत भी याद नहीं रहता, जो आपको संकेत से बता दूँ। मैं गुनगुनाती भी हूँ तो नये गीतों की ही ध्वनि गुनगुनाती हूँ। इसलिए मैं इस विषय में यही कहूँगी कि मुझे किसी रचना को लिखकर सन्तोष नहीं हुआ।"

यहाँ उनको फिर कुछ शंका-सी हुई कि मैं प्रश्न-तालिका के अनुकूल चल रहा हूँ। उनकी शंका ठीक थी। तभी मैंने भी निश्चित प्रश्न-क्रम से पृथक् एक प्रश्न उनके समक्ष रखा—"आपको चित्र-कला से अधिक प्रेम है या काव्य-कला से?"

इस प्रश्न से जैसे वह प्रसन्न हुईं और कहने लगीं—"काव्य-कला मेरी सर्वाधिक प्रिय वस्तु है, चित्र-कला उतनी नहीं। इसके भी कारण हैं। शब्द-जैसा अभिव्यक्ति का कोई दूसरा उपयुक्त साधन नहीं है। चित्र-कला में रंग, कूँची, केनवास आदि का कितना बन्धन है और बन्धन अच्छी वस्तु नहीं है। फिर एक चित्र में एक ही भाव को व्यक्त किया जा सकता, है जब कि काव्य में एक ही बार कितने ही भावों को व्यक्त कर सकते हैं। मेरी 'दीप-शिखा' को ही लीजिये। उसके चित्र पूरे गीत को व्यक्त नहीं करते, बल्कि गीत के अनेक शब्द-चित्रों में से एक को ही व्यक्त करते हैं। मैंने उपयुक्त शब्द-चित्र से मिलाकर चित्र रख दिए हैं। रही गद्य की बात, सो वह मेरा सदा से अच्छा रहा है। हिन्दी में मुझे बचपन से सर्वाधिक अंक मिलते रहे हैं। वह बीती बातों को याद रखने के लिए ही मैंने लिखा है। 'अतीत के चल-चित्र' शांतिप्रिय द्विवेदी ने 'कमला' में छापना शुरू किया था।

फिर मजबूर हो गई। लिखना पड़ा। मैं बुकसेलर के परेशान करने पर ही लिखती हूँ। अभी वैसे ४०—५० लेख बाकी हैं।"

और फिर मैंने अपना प्रश्न किया—"साहित्य-सृजन आप किस प्रकार करती हैं ?"

इस प्रश्न का जो उन्होंने उत्तर दिया वह मुझे अब तक आश्चर्य में डाले है। कारण, उनका अधिकांश समय साहित्येतर कार्यों में जाता है, तब वह कैसे इतना लिखती हैं, यह बात मेरे लिए एक पहेली बन गई है। उन्होंने जो-कुछ कहा, उसका सार था—"मेरा मन क्रियात्मक कार्यों में अधिक रमता है। साहित्य-सृजन मेरे लिए उतने महत्त्व का नहीं जितना कोई क्रियात्मक जनोपयोगी कार्य। इसीलिए मैं बिना दूसरा कार्य किये .जी नहीं सकती। वह पहला ध्येय है। साहित्य तो विराम के क्षणों की वस्तु है। जब कार्यों से छुट्टी मिलती है तब मैं थकान दूर करने के लिए लिखती हूँ। लिखने के लिए कभी पहले से सोचती भी नहीं। न अच्छे कागजों पर ही लिखती हूँ। रद्दी-सद्दी जो भी कागज मिला, उसी पर लिख डाला। कभी-कभी तो अखबार के खाली हाशिये पर ही लिखती हूँ और जहाँ-जहाँ जगह होती है, लिखती जाती हूँ। हाँ प्रेस-कापी करते समय मैं अवश्य ढङ्ग से लिखती हूँ। गीत में एक ही क्षण का लेखा होता है, इसीलिए पूरा गीत एक ही बार में लिखा जाता है। जब कभी अधिक कार्यवश उसे बीच में छोड़ना पड़ता है तो वह बेकार हो जाता है क्योंकि फिर उसमें वह आनन्द नहीं रहता। प्रबन्ध-काव्य में तो ऐसा चल सकता है, परन्तु गीतों में नहीं। सृजन मेरा ध्येय नहीं और न मैं चाहती हूँ कि मेरा नाम हो। मुझे तो इससे कोई ममता भी नहीं। प्रधान कार्य तो जन-हित का है और उसी में मेरा जी अधिक रमता है। मुझे यदि गर्मियों में पहाड़ पर जाना पड़ता है तो भी सेवा की भावना से ही जाती हूँ। वहाँ भी

दवा-दारू करती हूँ। फिर भी मैं जानना चाहती हूँ कि वे लोग कैसे रहते हैं।"

"लेकिन आपकी रचनाओं से तो जान पड़ता है कि आपके आन्तरिक अभाव और संघर्ष को शान्त करने के लिए ही उनका सृजन हुआ है।"—मैंने पूछा।

"नहीं", उन्होंने कहा, "छायावादी कवियों में किसी को भी संघर्ष नहीं करना पड़ा। क्या निराला, क्या पंत और क्या महादेवी, सब सम्पन्न थे। निराला जी ने १८ वर्ष की उम्र में 'जुही की कली' लिखी थी। तब उनको कोई अभाव नहीं था। पंत के साथ भी ऐसा ही रहा है। सामाजिक संघर्ष भी तब की अपेक्षा आज अधिक है। और अपने विषय में तो मैंने कह ही दिया है कि मैं तो एक प्रकार से अभाव-हीन ही रही हूँ और मुझे ऐसा कोई संघर्ष नहीं झेलना पड़ा। सामाजिकता का यह रूप जो मैंने अपनाया है, वह इसलिए कि वह मेरे मन के अनुकूल पड़ता है। तभी तो मैं 'भिक्खुणी' न होने पर भी सन्तुष्ट हूँ। आरम्भ में 'विधवा' आदि विषयों पर मैंने लिखा ही है। ये ही विषय सामने भी थे।"

यहीं मैंने उनसे जानना चाहा—"आपकी पुस्तकों के नाम 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सांध्य-गीत', 'दीप-शिखा' आदि सभी आकर्षक और सौन्दर्य से युक्त होने पर भी क्षणिक और परिवर्तनशील-से क्यों हैं?"

उन्होंने बताया—"संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है। क्षण-क्षण परिवर्तन हो रहा है। मेरी कृतियों के नाम भी इसी प्रकार के हैं। क्षण-भंगुरता कहीं नहीं है? सर्वत्र वही तो है। मैंने अपनी कृतियों के नाम कोई सोचकर नहीं रखे। वे रख गए हैं। आकर्षण और सौन्दर्य की बात यह है कि क्षणिक चीजें भी

इससे खाली नहीं होतीं, इसलिए उनमें भी इनकी परिणति होनी ही चाहिए।"

अन्त में मैंने उनसे पूछा—"लोग आपको आधुनिक काल की 'मीरा' कहते हैं। क्या आप इस विषय में कुछ कहेंगी?"

यहाँ उन्होंने बड़े संकोच से उत्तर दिया—"मीरा से लोग मेरी तुलना कर लेते हैं। मैं इस विषय में क्या कहूँ? वह स्त्री बड़ी महान् थी और उसे संघर्ष भी बहुत करना पड़ा था। उसे तो इतना बड़ा दण्ड मिला कि लोग यह भी नहीं जानते कि वह कहाँ मरी! इतनी महान् विभूति का इस प्रकार अज्ञात रूप से मर जाना कम दण्ड नहीं है। मुझे या किसी स्त्री को वैसा दण्ड नहीं मिला। हमारा संघर्ष उसके सामने कुछ भी नहीं है। जो राजस्थान में पूजी जानी चाहिए थी उसे ऐसा कठोर दण्ड मिला। यह अत्यन्त दुःख की बात है।"

इतना कहते-कहते वह मौन हो गईं। कुछ शैथिल्य-सा भी उन्होंने अनुभव किया। घड़ी में देखा तो मुझे यह जानकर बड़ी लज्जा अनुभव हुई कि मैंने एक नहीं, दो नहीं, तीन नहीं, पूरे चार घण्टे उनके ले लिये हैं; और वह भी तब जब वह कुछ अस्वस्थ भी हैं। मैं अधिक कुछ न कहकर केवल उनसे क्षमा के साथ आज्ञा ही माँग सका और श्रद्धा-भाव से भरकर उनके साधना कुटीर से बाहर चला आया।

९

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र

हिन्दी नाट्य-साहित्य की धारा को नया स्वरूप देने वाले तेजस्वी नाटककार श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के यहाँ मैं प्रातःकाल जब पहुँचा तो बोले—"प्रतीक्षा थी। आ गए। चलो, जल्दी गंगा-स्नान के लिए चलो।"

यह सुनकर मैं उनकी ओर देखता रह गया। मुझे आश्चर्य में पड़ा हुआ देखकर वे कहने लगे—"जानते नहीं, यह विश्वम्भरनाथ (मिश्रजी का ज्येष्ठ पुत्र) दाँतों के रोग से पीड़ित है। पर्याप्त इलाज कराने पर भी लाभ नहीं हो पा रहा, और इसकी कमजोरी बढ़ती जा रही है। अब सोचा है प्रातःकाल, रोज नंगे पैरों गंगा-स्नान को इसके साथ जाया करूँ। सप्ताह हो गया, यही क्रम है। इसे नंगे पैरों चलाने के लिए स्वयं मुझे भी नंगे पैरों जाना पड़ता है, नहीं तो इसके प्रति अन्याय होता। मैंने बाहर जूते और घर में खड़ाऊँ बराबर पहने हैं और पृथ्वी पर पैर नहीं रखा, पर अब इसके लिए यह कर रहा हूँ।"

बिना कुछ कहे मैं उनके साथ हो लिया। एक घण्टे तक गंगा की धारा में स्नान किया। मैं और विश्वम्भर-नाथ जी देर तक नहाते रहे और मिश्र जी कुछ पहले निकल आए। सहसा हम दोनों का नाम पुकारते हुए उन्होंने बाहर आने

के लिए कहा। जैसे ही हम बाहर आए, एक खंजन की ओर संकेत करते हुए वे बोले—"देखो, खंजन के दर्शन करो। शरद के प्रारंभ में खंजन के दर्शन बड़े शुभ होते हैं।" हम खंजन के दर्शन कर चुके तो उन्होंने एक श्लोक पढ़ा; जिसमें इस बात पर प्रकाश डाला गया था कि भिन्न-भिन्न दिशाओं में खंजन के देखने का क्या फल होता है। यह खंजन उत्तर-पश्चिम की दिशा में था, जिसका फल धन-धान्य की प्राप्ति होता है।

गंगा को दूध और पुष्प अर्पित कर, और माथे पर तिलक लगा हम घर की ओर चले।

मार्ग में मैं मिश्रजी के पुत्र-प्रेम, भारतीयता के प्रति उनकी निष्ठा और सारल्य के विषय में सोचता आ रहा था। इब्सन और शॉ की यथार्थवादी परम्परा को हिन्दी-नाटक-जगत् में लाने वाले मिश्रजी का अन्तर भारतीयता से ओत-प्रोत है, इसका मुझे आज ही पता चला, और आज ही मैंने यह अनुभव किया कि क्यों उनके नाटक अन्त में भारतीयता की ओर झुके हुए हैं।

तीसरे पहर हम लोग साहित्य-चर्चा के लिए बैठे। मैंने उनसे पूछा—"आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके साहित्यकार के निर्माण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई?"

"ब्राह्मण होते हुए भी", उन्होंने कहा—"मेरे पूर्वजों की क्षात्र-वृत्ति थी। मुगल सल्तनत के अन्तिम दिनों और अवध की नवाबी के आरम्भ तथा मध्य में मेरे कई पूर्वज सेना में काम करते थे। जो यह कहा जाता है कि कार्नवालिस ने जमींदारी-प्रथा को जन्म दिया, ग़लत है। अँग्रेजों के आने के प्रायः सौ वर्ष पहले मेरे पूर्वज विस्तृत भू-खण्ड के स्वामी हो चुके थे। आजमगढ़ के गजेटियर के अनुसार They were Warlike people. They used to Build mudforts and Hardly paid their tributes. इस

स्थिति में वही हुआ, जो कि संभव था। मालगुज़ारी न देने की वजह से इलाका नीलाम हो गया। बद-अमनी (गदर) के दिनों में बाबू कुँवरसिंह अपनी सेना के साथ, मेरे मकान के उत्तर में जो तालाब है, उस पर तीन दिन तक पड़े रहे। सेना का समस्त संभव व्यय मेरे पूर्वजों ने गाँव वालों की सहायता से उठाया; किन्तु इस शर्त का निर्वाह भी कुँवरसिंह के सैनिकों ने किया कि कोई सैनिक भूलकर भी गाँव के भीतर नहीं आ सकता। आजमगढ़ में कुँवरसिंह ने जो दरबार किया था उसमें मेरे परदादा सम्मिलित हुए थे। गदर प्रायः दबाया जा चुका था। बागों में सूलियाँ टँगी थीं और साँडनी के ऊपर दोनों हाथ और दोनों पैर एक में बाँधकर, छः आदमी एक तरफ और छः आदमी दूसरी तरफ लटकाकर उन बागों में लाए जाते थे और कुछ क्षणों में ही अंग्रेज कलक्टर उन्हें फाँसी का हुक्म दे देता था। यों लोग फाँसी पर लटका दिए जाते थे। उन्हीं दिनों मेरे एक पूर्वज देहात के एक जबर्दस्त मुसलमान का (जिसने राह चलते उनका अपमान किया था) घर लूटने में गिरफ्तार करके साँड़नी पर लटकाकर भेजे गए। अंग्रेज-कलक्टर का पेशकार मुसलमान था, जिसे कुछ ही दिन हमारे वंश का नमक खाने का अवसर मिला था। उसने बड़ी चालाकी से उन्हें जेल भेजकर छः महीने तक मामले को दबा दिया और छः महीने बाद उस अँग्रेज साहब की मेम को प्रभावित करके बीस हजार रुपये पर सौदा तय कर उन्हें जेल से छुड़वाया और तहकीकात में स्वयं आया। किन्तु जिन मियाँ का मकान लूटा गया था, सोने-चाँदी के जेवरात ही नहीं जिनके बर्तन भी देहात वालों ने लूट लिए थे, चालीस बोरी चीनी जिनके दालान से निकालकर कुएँ में डाल दी गई थी और देहात के लोग कुए से शरबत भर-भरकर पीते रहे थे उन्हीं के भाई मुकरम मियाँ ने सिर पर कुरान रखकर रोते हुए बयान दिया कि लूटने

वालों में ये मिश्र जी नहीं थे। बीस हजार रुपये में लखराँव (लाख पेड़ों का बाग) कटकर बिक गया और मेरे जन्म के बाद, जब मैं १०-११ वर्ष का था, मुझे केवल ५ पेड़ ही देखने को मिले, जिनमें ३ पेड़ हर्रे के और २ खिन्नी के थे।

इस प्रकार मुझे ऐसे वंश में जन्म लेना पड़ा, कि जिसकी सारी बनावट सामन्ती पद्धति की थी। शतरंज, घोड़े की सवारी और मांसाहार पिताजी के समय तक चलता रहा। आर्य समाज के प्रभाव से अपने उपनयन के साल मैंने मांसाहार छोड़ दिया था और अब मेरे बच्चों को मांस देखने को भी नहीं मिलता। परिवार में मैं अकेला बालक था। पिछली तीन पीढ़ियों में दो भाइयों के बीच केवल एक की ही सन्तान-परम्परा चलती आई थी। इस प्रकार मैं वह पुत्र रहा, जिसके साथ भावी वंश-परम्परा की आशा लगी थी; किन्तु सात वर्ष की अवस्था तक नितान्त रोगी और निर्बल रहा। यहाँ तक कि कभी-कभी रुई के गालों पर भी उठाया गया। पढ़ने की प्रवृत्ति थी ही नहीं। पिताजी के भय और कठोर सामन्ती शासन के कारण थोड़ा-बहुत बे-मन से पढ़ते-पढ़ाते किसी प्रकार यूनिवर्सिटी तक पहुँचा। गाँव के स्कूल के रास्ते में मुझे नित्य ही सर्प मिल जाया करते थे और मैं बहाना बनाकर घर बैठ रहता था। पिताजी जब कभी मारने पर उतारू होते थे, मेरी चाची किसी प्रकार अपने कपड़ों में छिपाकर मुझे बचाया करती थीं। अन्यथा उस क्रोध में बेचारी माँ तो किवाड़ बन्द करके घर में छिप जाती थीं। वर्नाक्यूलर मिडिल सन् १६१८ में कुल १२ वर्ष की अवस्था में पास किया। मिडिल स्कूल के हैडमास्टर बाबू रामलखनसिंह अपनी चारपाई के सामने ही रात को बरामदे में लड़कों को बिठाया करते थे। एक रात मैं अपनी दुलाई में लिपटकर सो गया और जिस समय वे एक लड़के को एक काठ का रूला लेकर मारने उठे, मुझे सिर्फ दुलाई समझकर अपनी खड़ाऊँ

मेरे ऊपर रख दी। एक बार तो मैं काँपकर उठा, किन्तु फिर इस भय से कि सोने के लिए मारा ही जाऊँगा, ऐसी कलैया साध गया कि उस समय के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के डॉक्टर साहब को उपचार के लिए आना पड़ा और यह नियम बना कि मैं और लड़कों के साथ न बैठ पाऊँ; नहीं तो ब्रह्म-हत्या का दोष लगेगा। उसी समय मिडिल स्कूल में 'सरस्वती' आया करती थी। मैं किसी-न-किसी प्रकार उसे पढ़ने का मौका निकाल लिया करता था। यों हम लोगों का उसे छूना भी अपराध था।"

"तब फिर आपकी साहित्य-साधना कब और कैसे आरम्भ हुई, और उसकी प्रेरणा आपको कहाँ से मिली ?"—मैंने पूछा।

वे बोले—"पहली तुकबन्दी मैंने १२ वर्ष की अवस्था में की थी, जिसका न तो कोई रिकार्ड है, न स्मृति में ही अधिक पंक्तियाँ रह सकी हैं। उसकी दो पंक्तियाँ यों हैं :

'आकण्ठ सुरसरि नीर में सब मनुज यों थे सोहते।
मानो विमल आकाश में नक्षत्र थे मन मोहते॥'

अंग्रेजी का आरम्भ इलाहाबाद में हुआ, किन्तु दूसरे ही वर्ष जातीयता और राष्ट्रीयता की लहर में काशी-विश्वविद्यालय में पढ़ने के लिए सैण्ट्रल हिन्दू स्कूल में चला गया। सन् २१-२२ में सर्वश्री कमलापति त्रिपाठी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', डॉ० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, दुर्गादत्त त्रिपाठी मेरे साथ ही ८ वें दर्जे में थे और ठीक अर्थ में साहित्य की ओर मेरा झुकाव उन्हीं दिनों हुआ। मैट्रिक परीक्षा में अभी कुछ महीने शेष थे और मैं गाहे-बगाहे 'अन्तर्जगत्' के छन्दों की रचना किया करता था। एक बार गर्मी की एक शाम को मैं अपने दो मित्रों के साथ गाँव के उत्तर वाले नाले घूमने गया था। इधर-उधर खोपड़ियाँ और हड्डियाँ फैली हुई थीं। पर पश्चिम की ओर अंधेरा होने पर जो नजर गई, एक तारा सभी ग्रहों से अलग, जैसे बहिष्कृत-सा, दिखाई दिया। अभी भी

वह दिखाई पड़ता है, किन्तु उस दिन के देखने से दो पंक्तियाँ 'अन्तर्जगत्' की अनायास निकल पड़ीं :

'भूले हुए नखत-से नभ में आकुल तिमिर-किनारे।
किस अनन्त को देख रहे थे, वे तेरे दृग-तारे॥

इसी 'अन्तर्जगत्' के साथ मैंने साहित्य में सन् १९२० में प्रवेश किया। प्रसाद का 'आँसू' उसके बाद छपा। निरालाजी तब 'मतवाला' के पन्नों पर चमक रहे थे और पंत जी 'उच्छ्वास' लिख रहे थे।"

"वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिनकी कृतियाँ आपको अधिक पसंद हैं और जिनका आपके जीवन में अपरिहार्य स्थान है?"

"जानकारी बढ़ाने के लिए और साहित्य की आधुनिक प्रवृत्तियों को समझने के लिए मैं विदेशी साहित्यकारों को भी पढ़ता रहा हूँ, किन्तु हमारे अपने जो दृष्टिकोण हैं, जिन्हें हम जातीय दृष्टिकोण कहते हैं अथवा जिन्हें हम भारतीय जीवन-दर्शन कहते हैं, वे मुझे यूरोप के साहित्यकारों में नहीं मिले। रोमांटिक काल के सभी यूरोपीय साहित्यकार मुझे अस्वस्थ जँचे। उनकी रचनाओं में मुझे सड़े मांस की गन्ध मिली। तब भी मिल्टन और शॉ को मैं पसन्द करता हूँ। इब्सन का बहुत अधिक प्रभाव मेरे नाटकों की बाह्य रूपरेखा पर पड़ा। गेटे, नीत्शे और रोम्याँ रोलाँ के भीतर मुझे भारतीय जीवन-दर्शन की झलक मिली। प्लेटो के सिद्धान्त, जहाँ तक मैं समझ सका हूँ, सब ओर से भारतीय हैं। भावना-प्रधान चित्रण तथा अतिरंजित चित्रण की पद्धति तो अरस्तू के कथार्सिस (Katharsis)-सिद्धान्त के बाद से चली, जिसमें यूरोपीय साहित्यकारों का एक-मात्र काम हो गया जीवन को मृत्यु के हवाले कर देना। मैं इस चीज को घृणास्पद समझता हूँ और कहता हूँ कि जीवन की रक्षा

मृत्यु से होनी चाहिए और यही उद्देश्य साहित्य और कला का होना चाहिए तथा भारतीय साहित्य और कला का यही उद्देश्य रहा है। वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास के प्रति मेरी एकान्त निष्ठा है। कालिदास और संस्कृत के प्रायः अन्य सभी कवि मुझे पसन्द आते हैं।"

आधुनिक कविता के सम्बन्ध में जब मैंने उनके विचार जानने चाहे तो उन्होंने कहा —"छायावाद का सारा काव्य उस युग के कवियों का अधः पतन है। फलतः मुक्तक या गीति-शैली की पद्धति को छोड़कर मैंने कितने ही वर्ष तक एकपंक्ति भी कविता की नहीं लिखी। 'सेनापति कर्ण' महाकाव्य का प्रारम्भ सन् १९३५ में हुआ, जो अभी भी पूरा नहीं हुआ। मेरी यह मान्यता है कि साहित्य और कला विचार व्यक्त करने के लिए नहीं, और न वे स्वर्ग, मोक्ष या अनन्त के सहकार के लिए हैं। जीवन का चित्र जीवन के लिए होना चाहिए। जीवन के व्यापार जगत् की यथार्थ अनुभूति में जैसे मिलते हैं उनका पुनर्निर्माण ही साहित्य और कला का ध्येय है। कवि, लेखक और साहित्यकार निर्माण नहीं करते। निर्माण का कार्य तो प्रकृति का है, जो बराबर बनते-बिगड़ते रहने से नश्वर है। प्रकृति के उसी निर्माण पर कवि या चित्रकार जब पुनर्निर्माण करता है तभी कला का जन्म होता है और यही पुनर्निर्माण अमर है।

इस सृष्टि का रचयिता यदि कोई है तो वह इस में सब ओर से अनासक्त है। साहित्य और कला की सृष्टि में रचयिता की यही अनासक्ति होनी चाहिए। जहाँ अपने व्यक्तित्व को सजाया गया, अपने दुःख-दर्द या आह-वाह को आकाश तक पहुँचाने की चेष्टा की गई, अपनी अतृप्तियों की दूकान खोली गई, और अपनी वासनाओं पर दर्शन के पर्दे चढ़ाए गए, वहाँ न साहित्य है न कला; हाँ एक भ्रम—एक धोखा अवश्य है। पहली शर्त है-

व्यक्तित्व के मोह से छूटकर समष्टि में लय हो जाने की भावना। जिस स्थिति में विभेद मिट जाता है और जिसकी अनुभूति में 'सियाराममय सब जग जानी' वाली बात कही जाती है, वही साहित्य और कला के लिए वांछनीय वस्तु है। हमारे यहाँ के कवि इसी स्थिति में आनन्द की साधना करते रह हैं। मुक्तक जो-कुछ पहले लिखे गए—हाल से लेकर जयदेव, विद्यापति और सूर तक—उनमें और यहाँ तक कि रीतिकालीन कवियों तक की मुक्तक रचनाओं में कवि का व्यक्तित्व सड़कर नहीं निकला, जैसा कि यूरोप के साहित्य में हुआ, और अंग्रेजी से प्रभावित हमारे यहाँ आज हो रहा है। उन प्राचीन कवियों के पास राधा-कृष्ण अथवा नायक-नायिका का माध्यम था इसलिए जो बातें कही गईं वे उनके सहारे कही गईं और कवि रति और रास के वर्णन में भी अनासक्त रहा। अपनी वह पहचान जब हम भूल गए और साहित्य तथा कला के आदर्श भी हमने पश्चिम से लिये तो अंग्रेजी 'लिरिक' की नकल पर अलाम्बन-हीन, व्यक्तित्व-प्रधान गीत लिखे गाए। यह रोग पहले बंगाल में फैला और फिर वहाँ से चलकर उत्तरी भारत में हिन्दी के क्षेत्र में छाया। इन गीतों में उपनिषदों की कोटि का ज्ञान-चिन्तन नहीं है। महादेवी वर्मा ने इस प्रकार की बात कहकर उपनिषदों के मुख पर कालिख पोती है। सच तो यह है कि जिन्हें जीवन के सामने खड़े होने का साहस नहीं था, जो उसके सामने खड़े न रह सके, वे इससे भागकर इसके स्वाभाविक भाव-क्रम से हट गए; और जहाँ इन्हें चुप रहना चाहिए था वहीं अधिक मुखर बनकर प्रायः उन्माद-ग्रस्त की-सी स्थिति में जो नहीं कहना चाहिए था, गीतों के रूप में वही कहते रहे। आत्मा का नाम बार-बार ब्रह्म या परमात्मा को भूलकर इन्होंने लिया। ऐसे आत्मवाद से नास्तिकवाद अधिक स्वस्थ रहा होता, पर पिछले पच्चीस वर्षों का

साहित्य जो बन गया है उसका मूल्यांकन अगले पच्चीस वर्षों में होगा और तब कहा जायगा कि यह सब कवियों और लेखकों की निजी वासना थी, जिस पर अंकुश न रखकर वे उसी में बह गए।

वस्तुतः आधुनिक कविता में, जो छायावादी और रहस्यवादी के नाम से प्रचलित है, भारतीय दार्शनिक पद्धति की छाया नहीं है, क्योंकि भारतीय दार्शनिक पद्धति में छायावाद की कोई सबल स्थिति मुझे नहीं दिखाई देती। रहस्यवाद के सम्बन्ध में भी यही बात है। उमर खैयाम, जलालुद्दीन रूमी और मंसूर को मैं रहस्य-वादी मान सकता हूँ, किन्तु हमारे प्राचीन साहित्य में ऐसे नाम नहीं मिलेंगे। इस्लाम में जहाँ स्वतन्त्र चिन्तन और स्वतन्त्र बुद्धि 'हराम' कह दी गई थी—जिसके लिए फाँसी चढ़ जाना बड़ा आसान था—वहाँ कवियों और विचारकों ने आड़ का सहारा लिया, जिससे वे बात भी कह जायं और उनके प्राण भी बचे रहें। किन्तु जिस देश में विचार-स्वातन्त्र्य अपनी चरम सीमा को पहुँच चुका था, जहाँ एक ही घर में नास्तिक, आस्तिक, शैव, वैष्णव, शाक्त सब प्रकार के लोग हुआ करते थे और जहाँ किसी को विश्वास विशेष के लिए प्राण-दण्ड नहीं मिला वहाँ किसी छिपाव के लिए कोई आवश्यकता न थी, न है।

आधुनिक कविता में प्रगतिवाद के नाम से जो नई धारा बही है उसमें रूस का अनुकरण है। जीवनसतत गतिशील है इसीलिए प्रगति मनुष्य का स्वभाव है। किन्तु जहाँ प्रगति के नाम पर कागज बहुत रँगा जाता है और काम कुछ नहीं होता, जहाँ रेशमी वस्त्र और इत्र से बसे बालों की चकाचौंध अधिक दिखाई देती है वहाँ यह आशा करना बिलकुल व्यर्थ है कि इस प्रकार की प्रगति से समाज में स्वाभाविक करुणा, स्नेह, शील और समता का प्रादुर्भाव हो सकेगा।"

मिश्रजी की मौलिक सूझ और स्पष्ट विचार-धारा में शक्ति के साथ-साथ नई दिशा भी है। वे जब बोलते हैं तो अजस्र-प्रवाह-परिपूर्ण झरने की भाँति उनकी वाणी का वेग श्रोता को चमत्कृत कर देता है। सर्वथा नए दृष्टिकोण से सोचना उनकी विशेषता है। कविता के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को जानने के साथ ही मैंने उनसे नाटक के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि वे क्यों काव्य से इस ओर मुड़े ? इस पर मिश्रजी ने कहा—"मुक्तक कविताओं से विरक्ति होने के कारण मैं इधर झुका। दूसरी विशेष बात यह है कि स्वर्गीय 'प्रसाद' की प्रतिक्रिया में मैंने नाटकों का निर्माण करने का निश्चय किया। प्रसाद के नाटकों की काव्य-मयी भाषा नाटक के लिए अशुद्ध और असत्य है। वैसी भाषा में कभी कोई बोलता ही नहीं। स्वगत की बे-रोक शब्दावली कुरुचि-पूर्ण और भ्रामक है। मैं स्वगत की पद्धति को ही अशुद्ध मानता हूँ। पागल को छोड़कर कोई दूसरा ऐसा नहीं करता। जीवन में जिसका अस्तित्व नहीं वह साहित्य और कला में नहीं आना चाहिए। प्रसाद की आत्म-हत्याओं की शैली अभारतीय ही नहीं, इस देश में पाप भी मानी गई है। इसके प्रमाण में 'ईशावास्य' उपनिषद् का कथन है :

> 'असूर्यानाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः ।
> ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥'

प्रसाद जी भारतीय दर्शन से सर्वथा दूर होने पर भी श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी आदि द्वारा भारतीय संस्कृति के उद्धारक बताए गए हैं। यह झूठ है। वास्तव में शेक्सपीयर से डी० एल० राय, और डी० एल० राय से प्रसाद, यह क्रम रहा है। प्रसाद के चरित्रों का निर्माण कल्पना की उड़ान में हुआ है—उस कल्पना की उड़ान में जो धरती के जीवों को भूल गई थी और बराबर निराकार रूप में आकाश को निहारा करती थी।"

"यह तो ठीक है कि आपने प्रसाद जी की प्रतिक्रिया-स्वरूप अपने समस्या-नाटकों की रचना की परन्तु इब्सन और शॉ के प्रभाव से जो नाटक आपने लिखे उनमें भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए आपने कौन-सा प्रयत्न किया है ?"—मैंने पूछा।

उन्होंने कहा—"जहाँ तक मेरे नाटकों पर इब्सन और शॉ का प्रभाव बताया जाता है वहाँ तक मैं इतना मानता हूँ कि मेरे नाटकों की ऊपरी वेश-भूषा अवश्य यूरोपीय नाटकों से प्रभावित है, नाटक का भाव-लोक, उसका अंतरङ्ग पश्चिमी नाटककारों से प्रभावित नहीं। इब्सन से यूरोप के साहित्य में निश्चित क्रांति हुई थी, पर इब्सन की पद्धति यूरोप की शोकांतिकाओं और शेक्सपीयर के विरोध में थी, जिनमें जीवन कल्पना से बनाया गया था। वह स्वाभाविक धरती का जीवन नहीं था, जिसे इब्सन ने अपने नाटकों में दिया। परन्तु इस देश के लिए इब्सन की क्रांति का कोई महत्त्व नहीं। भास और कालिदास तथा संस्कृत के अन्य कई नाटककार इब्सन के प्राय: १००० वर्ष पूर्व के जीवन की स्वाभाविकता के आधार पर नाटक लिख चुके थे। संस्कृत के अधिकांश नाटक समस्या-नाटक हैं। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' और कालिदास का 'अभिज्ञान शाकुन्तल' दोनों उस समय के सामाजिक जीवन का सही-सही चित्र देते हैं। कन्व के तपोवन में दुष्यन्त का आश्रम-कन्या शकुन्तला से प्रणय निश्चयात्मक रूप से उस समय की मान्यताओं को चुनौती है। और स्त्री-पुरुष के स्वतन्त्र प्रेम का विजय-गान है। पश्चिम में अनेकों वाद बनते बिगड़ते रहे और उन्हीं के प्रभाव से यह वादों का बवंडर हिन्दी में अब आया है, नहीं तो कालिदास और अश्वघोष की साहित्य-साधना जिन मान्यताओं पर चली उन्हीं मान्यताओं पर तुलसी आदि भी जमे रहे। युग-भेद के कारण जीवन-दर्शन में भेद नहीं आया। फ्रायड, एडलर आदि ने जिन मना-

वैज्ञानिक सत्यों का प्रचार यूरोप में अब किया है उनका पता पतंजलि के आस-पास वात्स्यायन को चल चुका था, जिसके संकेत उपनिषदों में भी मिलते हैं। पुराणों में उनकी स्थूलता और बढ़ी है। श्रीमद्भागवत से लेकर संस्कृत के सभी महाकाव्यों में शृङ्गार रस के रूप में यह बीज फैला और फूला-फला। यह प्रकृति की देन है, बुद्धि की उपज नहीं। प्रकृति के तत्त्वों का सूक्ष्म अनुभव इस देश के कला और साहित्य का आधार बना, इसलिए यहाँ विभेद-वृत्ति नहीं है; क्योंकि तथ्यों में कभी विपर्यय नहीं होता। लेकिन यूरोप में यूनानी सभ्यता के समय से लेकर आज तक साहित्य और कला बुद्धि-प्रधान कल्पना में भटकते रहे। ईमानदारी के साथ उन्होंने जीवन के सामने सिर झुकाकर उसकी जय बोलने का कष्ट नहीं किया। इसलिए वहाँ सब-कुछ अनिश्चित रहा। वाद आया, नए युग ने उसे बदला, और फिर नया वाद स्थापित हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि मुझे भारतीयता के प्रति मोह है। अपने साहित्य और कला के माध्यम से मुझे भारतीयता का जो स्वरूप मिला उसे ही मैं स्वस्थ और वैज्ञानिक मानता हूँ।

एक बात और अपने समस्या-नाटकों के सम्बन्ध में कहना चाहता हूँ और वह यह कि रचना विवशता की देन है; उसी प्रकार जैसे प्रेम। दुनिया का रूप बदलने के लिए रचना नहीं होती, बल्कि सामाजिक जीवन जिन कठिनाइयों और खड्डों से पार हो रहा है उन्हीं में से एक या दो का रूप साहित्यकार खड़ा कर देता है। समस्या उठाना ही उसका काम है, समाधान प्रस्तुत करना नहीं। जो अभाव या जो परेशानी उसके भीतर होती है उसका चित्र भी वह खींचता है; पर अपने से स्वतंत्र होकर। मेरे नाटकों में यही दृष्टिकोण प्रमुख है।"

उनके नाटक-सम्बन्धी दृष्टिकोण को जान लेने पर मैंने उनसे

प्रश्न किया—"साहित्य-सृजन का आपका ढंग क्या है ?"

उन्होंने बताया—"मुझे नियमित रूप से लिखने की आदत नहीं। कभी-कभी साल-के-साल बीत जाते हैं जब एक अक्षर भी नहीं लिख पाता। पर जब लिखने की प्रवृत्ति होती है तो फिर मैं अपने वश में नहीं रहता। ऐसा लगता है जैसे किसी सम्मोहन के वशीभूत होकर मैं विवशता से लिख रहा हूँ। ऐसे समय में समूचा दिन और रात भी लिखने में बीतते जाते हैं और तब तक लिखता रहता हूँ जब तक कि शरीर जवाब न दे दे—एक प्रकार की मूर्च्छा-सी न आ जाय। यही करण है कि मेरे अधिकांश नाटकों की रचना इने-गिने दिनों की है, जिनमें आहार से भी अरुचि रही या कभी कुछ आहार लिया भी तो ऐसा, जैसा लोग व्रत की स्थिति में लेते हैं।

पाण्डु-लिपि एक बार लिखकर मैं उसमें परिवर्तन नहीं करता। उसमें संशोधन होता ही नहीं। 'सिन्दूर की होली' की पाण्डु-लिपि पढ़कर एक विद्वान् ने उसमें से एक शब्द बदलने के लिए कहा जो अशुद्ध था, परन्तु मैंने उनसे मना कर दिया और कहा—'कभी-कभी हम बोलने में भी तो अशुद्ध शब्द बोल जाते हैं। ऐसे ही यह पात्र भी बोल गया होगा। जो स्वाभाविक ही है। संशोधन की आवश्यकता मैं नहीं समझता।'

मैं लाइनदार कागज पर लिखना पसन्द नहीं करता। सफेद बैंक पेपर पर फाउण्टेन पेन से लिखना मुझे अच्छा लगता है। लिखते समय सुरती और पान खाता हूँ। पहले भाँग पीने की भी आदत थी, पर अब नहीं है। शतरञ्ज और घोड़े की सवारी भी छूट चुकी है। जंगलों और नदियों की ओर भी स्वाभाविक रुचि है। 'अन्तर्जगत्' के लिखने के समय या उसके पहले मैं चन्द्रमा की ओर इस विश्वास से देखा करता था कि इससे कवित्व-शक्ति बढ़ेगी। आधे घण्टे में ऐसा होता था कि चन्द्रमा

दूसरे दिन हमारी बैठक फिर जमी। लेकिन आज उन्हें एक साहित्य गोष्ठी में जाना था इसलिए उनके पास मय का कुछ अभाव था। इतना होने पर भी मेरी स्थिति को ध्यान में रखकर वे इनटव्यू को पूरा कराने के पक्ष में थे। इसलिए कुछ संकोच का-सा अनुभव करते हुए तब मैंने उनसे सबसे पहले यह प्रश्न किया—"आज तक किस कृति को लिखकर आपको; सर्वाधिक सन्तोष हुआ है ?"

"नाटकों में", उन्होंने कहा, "मुक्ति का रहस्य" मेरे बहुत निकट है। काव्य से भी मुझे बहुत आशा है, पर आवेग और आत्म-प्रलय की स्थिति में आकर उसकी पूर्ति हो जाय तब कुछ काम बन सकेगा।"

मिश्रजी स्वतन्त्र रूप से साहित्य-साधना करते हैं, कहीं नौकरी नहीं करते साहित्य के आधार पर ही वे अपने पुत्रों को उच्च शिक्षा दिला रहे हैं। मैंने पूछा—"क्या साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है ?"

उन्होंने बताया—"हाँ, यदि आवश्यक धैर्य और कार्य-शक्ति में विश्वास हो। अन्यथा साहित्य जीविका का सुरक्षित आधार कभी नहीं हो सकता। किसी अनुकूल स्थिति में स्नेहमयी प्रेमिका का काम तो साहित्य दे जायगा, किन्तु प्रतिकूल परिस्थिति में साध्वी-सहचरी का काम वह नहीं दे सकता।"

जब मैंने हिन्दी-साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया तो उन्होंने कहा–"आधुनिक साहित्य का वातावरण यूरोपीय अनुवा सा लगता है। उसका वातावरण थाली और कटोरी का न होकर 'कप' और 'सौसर' का है।" और यहीं उन्होंने 'नेहरू अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित 'अपने 'एक दिन' एकांकी में एक पात्र द्वारा कहे गए वे वाक्य मेरे सामने रख दिए। बाप को 'पापा' और माँ को 'ममी' लिखने वाले तुम्हारे लेखक

उत्तेजना और आवेश बहुत दे रहे हैं। बस, विवेक की ओर नहीं देखते, नहीं तो नंगे साहित्य का व्यापार वे नहीं चला पायंगे। वह जो एकांकी-संग्रह तुमने यहाँ रखा था, उसके एक नाटक में साइकिल लेकर पापा आफिस चले जाते हैं दस बजे सवेरे, और २ बजे दिन में ममी लंच की चिन्ता में व्यस्त दिखाई गई है। फिर सारा दिन और आधी रात तक न कहीं 'पापा' है, न 'ममी' है उस घर में। बस एक ही व्यापार चल रहा है—कुमारियों और उनके प्रेमियों की प्रेम-लीला। यूरोप और अमरीका में भी इतना मद नहीं है जिसमें यह देश डूब रहा है।'

"इस प्रकार की भावनाओं के साहित्य से हमारा उत्थान संभव नहीं है। हमें अपने अतीत के प्रति अधिक जागरूक और संयत होना होगा और तभी वर्तमान की रक्षा के साथ भविष्य की सुखद सृष्टि में विचरण किया जा सकेगा। यदि ऐसा नहीं करते तो हम कर्तव्य से च्युत होते हैं। आज हमें अन्य प्रांतीय भाषाओं के समकक्ष भी खड़ा होना है और हिन्दी-साहित्य को संसार की विकसित भाषाओं के साहित्य की कोटि तक पहुँचाना है। एक सुनिश्चित योजना के अनुसार सभी प्रांतीय भाषाओं से ललित साहित्य, काव्य, कथा-साहित्य, संस्मरण, हास्य, व्यंग्य, निबन्ध, नाटक आदि हिन्दी में आने चाहिए। अधिक आवश्यक कार्य है वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण का, जिसमें समस्त भाषाओं के विद्वानों का सहयोग लेकर कार्य करना चाहिए।

साथ ही हिन्दी के भविष्य के लिए उसके लेखकों के भविष्य की चिन्ता भी हमें करनी होगी। हिन्दी के प्रकाशकों से वे बुरी तरह पीड़ित हैं। पता ही नहीं चलता कि वे कितनी पुस्तकें बेचते हैं और कितनी पुस्तकों की रायल्टी देते हैं। इसके सजीव प्रमाण महाकवि 'निराला' हैं। साहित्य और साहित्यकार की चिन्ता न करके प्रकाशक अपनी तिजौरी भरता है। इस देश की

स्वतन्त्रता के युग में साहित्यकार यदि अधमरा जीवन बिताता रहा, आर्थिक कठिनाइयों से छूट न सका, तो फिर वह किस तरह के साहित्य का निर्माण करेगा, सहज ही सोचा जा सकता है। सेना की तरह कला भी पेट के ही बल पर चलती है. इसलिए कलाकार की स्थिति को सुधारना नितान्त आवश्यक है। उसकी अच्छी-बुरी स्थिति पर ही हिन्दी-साहित्य के भविष्य का अच्छा या बुरा होना निर्भर है।"

साहित्य को आधार बनाकर जीना और आदर्श की रक्षा करना कठिन कार्य है; पर मिश्र जी ऐसा कर पाते हैं, यह बड़ी अद्भुत बात है। साहित्य और जीवन में समन्वय के वे पक्ष-पाती हैं। भारतीयता उनका प्राण है, पर वे रूढ़िवादिता के घोर शत्रु हैं। उनकी भारतीयता की अपनी मौलिक व्याख्या है जिसमें वे अपने ढंग से युग की उन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति संभव मानते हैं, जिनके लिए हम पाश्चात्य संस्कृति की ओर देखते हैं। स्पष्टता उनका सबसे बड़ा गुण है। उनके तर्क अकाट्य होते हैं और उनके पीछे पर्याप्त चिन्तन और मनन की शक्ति रहती है। हम अपने इस सशक्त नाटककार और कवि के दीर्घ जीवन की कामना करते हैं, जो पारिवारिक तथा सांसारिक चिन्ताओं से लड़ता हुआ भी हमारे साहित्य को अभिनव कृतियाँ देने में आज भी रत है।

१०

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक और साहित्यकार श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी को मैं अधिक तो नहीं, पर सन् '४२ से जानता हूँ। उन दिनों आप कटे हुए पतङ्ग की तरह अचानक आगरा पहुँचे थे। और श्री रामप्रसाद विद्यार्थी ('रावी' नाम से लिखने वाले मौलिक कथाकार) के यहाँ ठहरे थे। विद्यार्थी जी के यहाँ मेरी भेंट हो गई, तो फिर दो-तीन दिन बराबर हम उनके साथ साहित्य-चर्चा में रत रहे थे। एक दिन शाम को, मुझे अच्छी तरह याद है, द्विवेदीजी ने ताजमहल के आँगन में शाहजहाँ को सभापति बनाकर अपनी 'ताजमहल' शीर्षक कविता आत्म-विभोर होकर सुनाई थी। उस समय उनके अन्तर में छिपा कवि आलोचक को दबाकर सहसा प्रकट हो गया था और मैंने सोचा था कि यदि यह सर्वहारा साहित्यिक अनुकूल परिस्थितियाँ पाता तो न जाने कितनी मौलिक काव्य-कृतियाँ हिन्दी-माता के भण्डार में भरकर अपने को धन्य समझता।

तब से निरन्तर द्विवेदीजी के साथ मेरी घनिष्ठता बढ़ती गई है। वे एक-दो बार आगरा फिर आये हैं। इसके अतिरिक्त जयपुर, उदयपुर, दिल्ली, प्रयाग आदि नगरों में साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशनों और अन्य साहित्यिक समारोहों में उनसे भेंट

होती रही है। इन अवसरों पर भी हम अपने अभाव-अभियोगों की चर्चा से परस्पर निकट आते रहे हैं। द्विवेदीजी के प्रति मैं अत्यन्त आदर का भाव रखता हूँ। इसका एक कारण यह भी है कि मैं भी उन्हीं की भाँति सर्वहारा साहित्यिक हूँ और साहित्य के पथ पर चलते हुए मुझे उनकी निष्ठा से बल मिलता है। मैंने देखा है कि लोग उनके बहरेपन का मजाक उड़ाते हैं, और उन्हें, 'बनाने' में गौरव समझते हैं। उनके समकालीन ही नहीं, उनसे छोटी उम्र के भी उनसे चाहे जो व्यवहार कर देते हैं, लेकिन मैंने कभी वैसा करने की हिम्मत नहीं की। कारण कि आज के अधिकांश साहित्य-सेवी जब बिके हुए हैं, तब द्विवेदी जी स्वान्तः सुखाय लेखनी चलाकर मौलिकता के सतीत्व की भी रक्षा कर रहे हैं। मुझे उनका व्यक्तित्व अभिनन्दनीय लगता है और जीवन दयनीय। इसलिए मैं अन्य लोगों द्वारा उनका उपहास सहन नहीं कर सकता और कभी-कभी कुछ उग्र भी हो उठता हूँ। अस्तु;

बम्बई में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन पर उनसे फिर भेंट हुई। अब की बार मैंने उनसे कहा कि वे अपना इण्टरव्यू दें। यहाँ इतना और बता दूँ कि जब से मैंने हिन्दी में इण्टरव्यू लिखना प्रारम्भ किया है, तब से बराबर मैंने द्विवेदीजी से इण्टरव्यू देने का आग्रह किया, परन्तु वे उसे टालते रहे। अब जब मैंने उनसे कहा कि मेरी पुस्तक छपने जा रही है और आपका इण्टरव्यू उसमें होना अनिवार्य है तो वे बड़ी कठिनाई से राजी हुए। इण्टरव्यू देने से पहले अपने संकोची स्वभाव के वशीभूत होकर वे बोले—"कमलेश! मेरा इण्टरव्यू किस काम का? मेरी स्थिति तो समाज में तुरुफ की दुग्गी-जैसी है, जिसे पहले से ही नगण्य समझकर अलग रख दिया जाता है। या यों समझ लो कि मैं टकसाल

में से निकला हुआ बिना मुहर का सिक्का हूँ, जिसे न बाजार स्वीकार करता है, न सरकार। भाई संसार में 'मैजिक' की पूजा हो रही है—एक रूप में नहीं नाना रूपों में, पैसा जैसा निर्जीव है वैसी ही उसके द्वारा की जाने वाली सार्वजनिक क्षेत्रों में बाहरी व्यामोह की पूजा है।"

मैंने कहा—"द्विवेदीजी! 'मैजिक' की पूजा सदा न होती रहेगी, क्योंकि मन बहलाने वाले 'मैजिक' से दुनिया यदि सत्य का तिरस्कार अधिक दिन करती रही तो नाश निश्चित है। मेरा तो विश्वास है कि शीघ्र यह आडम्बर का प्रासाद धराशायी होगा और आप-जैसे व्यक्ति जिस मानवीय संवेदनपूर्ण स्पृहणीय संसार की कल्पना कर रहे हैं, वह ज्वाला की भाँति अशेष तेज लेकर प्रकट होगा।"

मेरे इस कथन से आश्वस्त-से होकर वे कहने लगे—"बचपन से ही मुझे सामाजिक जीवन नहीं मिला। वह आज भी प्राप्त नहीं है। उसे पाने के लिए जो आत्म-हिंसा (आत्म-प्रवंचना) करनी पड़ती है उसके लिए मेरा अन्तःसंस्कार प्रस्तुत नहीं है। सामाजिक जीवन तो प्राप्त नहीं हुआ, ऐहिक पोषण के लिए आर्थिक सुविधा भी मुझे बचपन से ही नहीं मिली। मैं नहीं जानता कि हिन्दी में मुझसे अधिक किसी की निराधार स्थिति रही है। बल्कि मेरा तो खयाल है कि एक किसान मेरी अपेक्षा अधिक सम्पन्न स्थिति का प्राणी है। देहात में बचपन बिताते हुए भी मैंने वहाँ की घोरतम दरिद्रता में हवा और पानी से ही प्राण-वायु ग्रहण कर पाई।

बहुत छुटपन में माँ मरी थीं, तब मैं रोया था माँ के दूध के लिए। मेरे अबोध आँसुओं को पोंछने के लिए बहन का स्नेहांचल बढ़ आया था। वह मुझसे बारह वर्ष बड़ी थी। माँ के पार्थिव शरीर के नष्ट होने पर उसी में मुझे माँ की ज्योत्स्ना

मिली थी। वह भी छुटपन में ही विधवा हो गई थी। वह पौराणिक विश्वासों में पली हुई आर्य-बाला थी। उसका, अंत-र्विवेक सुसन्तुलित था। जीवन में जो-कुछ सत्य और शिव है, उसे वह अपनी बुद्धि से अभिभूत करके देखती थी। देवी-देव-ताओं को वह मानती थी, किन्तु उनका रूप-रङ्ग वह अपने कला-बोध से निश्चित करती थी। काले रंग से उसे बेहद चिढ़ थी। चमड़े की चीजों से उसे घृणा थी। कहती, 'न जाने किस जीव का हनन हुआ है।' देहात से काशी जाती तो स्टेशन पर सवारी न मिलने पर पैदल ही चल पड़ती। कहती, 'क्या जीव के ऊपर बैठकर तीर्थ-यात्रा करने जाऊँ?' आचार-विचार यहाँ तक बढ़ा हुआ था कि छाते की नोक को भी धो-पोंछकर रखती थी, यह सोचकर कि न जाने किस ठाँव-कुठाँव में गड़ी-सनी हो। रामायण का पाठ वीणा की झङ्कार के समान करती थी। बाल-विधवा होते हुए भी वह संस्कृति और कला की उपेक्षा नहीं करती थी। सीना-पिरोना, कसीदा काढ़ना, रंगीन ऊन के स्वेटर और साड़ियों पर टाँके जाने वाले गोटे बुनना, ये सब उसके अध्यवसाय थे। जीविका के लिए वह मुख्यतः गोटे की बुनाई करती थी। गाँव की कन्याओं के लिए एक पाठशाला भी चलाती थी।

ऐसी स्नेहशीला बहन ने मुझे मातृ-हीन होने पर अपने अंचल में छिपा लिया। वह सोते समय मुझे अपने हृदय से लगाकर सोती थी। बहन के सिवाय शेष जगत् के साथ मेरा रागात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सका। इस तरह छुटपन से मेरे अंतः-संस्कारों में बहन के ही स्पन्दनों का संचार होता गया। मेरी रचनाओं में शब्द मेरे रहे हैं, आत्मा उसकी। वह स्वयं एक करुण साहित्य थी। उसी के प्रभाव से मेरे व्यक्तित्व का निर्माण हुआ।"

"क्या आपके परिवार में और कोई सदस्य नहीं थे? यदि थे

तो उनका प्रभाव आप पर क्या पड़ा ?"—बहन की गुण-गाथा में तल्लीन द्विवेदी जी से मैंने पूछा।

उन्होंने ऐसा भाव दिखाते हुए कि मानो वे बहन के अतिरिक्त और किसी के सम्बन्ध में कुछ कहना अधिक आवश्यक नहीं समझते, कहा—"थे क्यों नहीं ? हम कई भाई-बहन थे। हमारी एक मँझली बहन थी। फिर मुझसे छोटे दो भाई और दो बहनें और थीं। बहन ने ही उनका नामकरण किया था—एक का नाम था रुचन, दूसरे का नाम था हीरामन। बहनों में से एक का नाम कलावती, दूसरी का नाम मुन्नी। ये सभी अपने दुधमुँहे दिनों में चल बसे। मात्र मँझली बहन ग्राम्य-गृहिणी थी। मेरा नाम सबसे सादा था--मुच्छुन : मातृ-विहीन शिशु।

इनके अतिरिक्त मेरे पिताजी भी माँ के जीवन-काल में ही संन्यासी हो गए थे। वे सचमुच ही ब्राह्मण थे। इसीलिए वे अपने कुटुम्ब को बिना कोई सुदृढ़ लौकिक आधार दिये 'राम भरोसे' बाबाजी हो गए। वे दुर्बली महाराज अत्यन्त भोले थे। उनकी लौकिक सम्पत्ति तो मुझे नहीं मिली, पर उनके मानसिक संस्कारों की छाप मेरे ऊपर गहरी पड़ी; इससे मैं इन्कार नहीं कर सकता।

पारिवारिक जीवन की जिस परिस्थिति में मेरा पालन-पोषण हुआ उसके लाख अभाव-ग्रस्त होने पर भी ग्राम्य-जीवन और ग्राम्य-प्रकृति से मेरा स्वच्छन्द सम्बन्ध स्थापित हो गया। मदरसे जाना और लौटकर गंगा में तैरना बचपन का नियम-सा था। आम के बागों में चक्कर लगाना, खेतों में घूमना और रामलीला-कृष्णलीला के तमाशे में अपने को भूल जाना, ये स्वाभाविक कार्यक्रम थे।"

"ऐसी परिस्थिति में आपका साहित्य-सृजन कैसे प्रारम्भ हुआ। यहाँ तो कोई ऐसा सुयोग मुझे नहीं दीखता कि आपकी

परिस्थितियों ने आपको साहित्य-सृजन के लिए बल दिया हो ?"
—मैंने पूछा।

द्विवेदी जी ने कहा—"हिन्दी की बात यों हुई कि मेरे सामने कोई भविष्य नहीं था। साहित्य-क्षेत्र में सरस्वती-पुत्र (ब्राह्मण) होने के कारण अकस्मात् और अनायास आ गया। जन्म यद्यपि काशी में हुआ, पर बचपन अधिकांश देहात में बीता। देहात में मेरा जीवन-क्रम ग्राम्य-प्रकृति के साथ हिलने-मिलने का था। खेतों, तालाबों, गंगा के कछारों में विहार और ग्राम्य-सखाओं के साथ खेलना-कूदना। वहाँ के वातावरण में आज के शांति-प्रिय का कहीं आभास भी नहीं था। घोरतम अभावों के भीतर मेरा शैशव बीता है। ऐसे अभावपूर्ण जीवन में महत्त्वाकांक्षा के लिए कहीं स्थान नहीं हो सकता। फिर भी जैसे समुद्र से नदी-तट पर आकर और नदी-तट से तालाब पर आकर मन की उन्मुक्तता सिकुड़ नहीं जाती, वैसे ही काशी की विराटता का अज्ञात संस्कार देहात के सीमित दायरे में संकुचित नहीं रह सका। देहात में ही बचपन से मेरा मन किसी ऊर्ध्व धरातल पर तैरता रहता था। काशी आने पर वही धरातल साहित्यिक धरातल-साहित्यिक क्षेत्र के रूप में स्पष्ट हो गया। लेकिन अब मुझे साहित्यिक धरातल भी बहुत संकीर्ण जान पड़ने लगा है। मुझे ऐसा लगता है कि साहित्य भी आत्म-छलना का एक सम्मानित क्षेत्र है। अन्य क्षेत्रों में जिस प्रकार लोग बिना किसी कर्मण्यता के अपने लिए सामाजिक संरक्षण प्राप्त करते चले आ रहे हैं उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र में भी अकर्मण्य-कर्मण्यता का अभिनय हो रहा है। मैं तो शब्दों को रचनात्मक कार्यों में साकार देखने के लिए विकल हो उठा हूँ। राजनीति, समाज, साहित्य, संस्कृति और कला आदि जीवन के जितने क्षेत्र हैं, सभी में केवल आत्म-प्रवंचना अपने नाना रूपों में खुलकर खेल रही है। पूँजीवाद के दोषों से

इस युग का कोई भी मानव, चाहे वह किसी भी वर्ग का हो, मुक्त नहीं रह सका है।

अपने साहित्य-सम्बन्धी पठन-पाठन और लेखन के प्रारम्भ के सम्बन्ध में मुझे केवल इतना कहना है कि पोषण के साधनों से वंचित होने और कोई सामाजिक जीवन प्राप्त न होने के कारण बचपन से ही मेरा शरीर खादी के कच्चे धागे की तरह कृश रहा है। इसीलिए मुझसे दैहिक और मानसिक प्रयास छुटपन से ही नहीं हो पाता था। अपनी असमर्थता के कारण मैं पूरी तरह से स्कूली शिक्षा भी नहीं प्राप्त कर सका। केवल साक्षर-मात्र बन सका। लेकिन जैसा कि पहले कहा है, मेरा मन अपनी परिस्थितियों से ऊपर तैरता आया है। मैं अपनी स्वल्प शिक्षा में भी बड़ी प्रेरणाओं की तरफ उन्मुख रहता आया हूँ। १६२१ के असहयोग-आन्दोलन में स्कूली पढ़ाई छूट जाने पर भी अपनी बाल-सुलभ अन्वेषण-बुद्धि के कारण मैं अच्छी पुस्तकों के संसर्ग में जा पड़ा। मुझे जीवन में अच्छे साथी कभी नहीं मिले, लेकिन मुझे पुस्तकें दैव संयोग से अच्छी मिल गईं। दैव संयोग इसलिए कि पुस्तकों के चुनाव में भी किसी ने मुझे कोई सहयोग नहीं दिया और मेरे अपरिपक्व 'शिशु-मन' का इतना विकास नहीं था कि मैं स्वयं ही चुनाव कर सकता। आप चाहें तो इसे इस प्रकार कह सकते हैं कि अच्छी पुस्तकों के रूप में मुझ अन्धे के हाथ में बटेर लग गई।

सबसे पहले सार्वजनिक वाङ्मय की ओर मेरा झुकाव काशी के दैनिक 'आज' के द्वारा हुआ। उसमें बाल-चांचल्यवश एकाध स्थानीय संवाद प्रकाशित हो जाने के कारण मुझे लेखक बनने का उत्साह मिला। उन दिनों असहयोग-आन्दोलन का आरम्भ था। आए दिन सार्वजनिक सभाओं में देश के गण्यमान्य नेताओं के भाषण होते रहते थे। मैं उन सभी सभाओं में उप-

स्थित होता था। उन भाषणों से भी ज्ञान-वृद्धि में बहुत-कुछ सहयोग मिल सका। बाहरी संसार में भाषणों और अखबारों द्वारा ऊपरी सतह पर तैर रहा था, किन्तु मेरा अन्तस्तल भीतर से शून्य था। उन्हीं दिनों हिन्दू-स्कूल के प्रौढ़-वय अध्यापक महोदय ने (जो स्वभावतः ढीले-ढाले थे) मुझे 'स्त्री-दर्पण' की पुरानी फाइलें और स्वामी रामतीर्थ की जीवनी पढ़ने के लिए दी। स्वामी रामतीर्थ की जीवनी से मेरा अन्तःकरण अपना केन्द्र पा गया। किन्तु सबसे पहले मैं बाह्य प्रयास (लेखनी को) साधने में ही लगा। 'स्त्री-दर्पण' में छपी एक पुरानी पद्यबद्ध कविता को गद्य में लिखकर कहीं छपने को भेज दिया। उसे छपा हुआ पाकर मैं बहुत उत्साहित हुआ और लेखक बनने की महत्त्वाकांक्षा मुझमें जाग उठी। ऊँचे क्लास में पढ़ने वाले एक विद्यार्थी को पुरस्कार में मिली 'अमेरिका-भ्रमण' नामक पुस्तक को पढ़कर स्वामी सत्यदेवजी की अन्यान्य पुस्तकों को पढ़ने की लालसा हुई। स्वामी जी की पुस्तकों से मुझे भाषा का ओज मिला। मेरे आरम्भिक लेखों में स्वामी जी की भाषा का बहुत प्रभाव है। ऐसे लेखों का संग्रह मेरी 'जीवन-यात्रा' नामक पुस्तक में है। लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि घर-बाहर से वंचित मेरा मन अपने एकाकीपन में जन्मतः भाव-प्रवण है। मेरा जो भाव-प्रवण मन देहात के साधन-हीन वातावरण में मूक था और कभी-कभी पाठ्य-पुस्तक में पढ़ी हुई श्री मैथिलीशरण गुप्त की तुकबन्दियों को गुनगुना उठता था वह अचानक छायावाद की कविताओं का संस्पर्श पाकर मुग्ध हो उठा। मेरा जो मन स्वामी रामतीर्थ के जीवन-चरित्र में अपना केन्द्र पा गया था, वह छायावाद में सुस्थिर हो गया और लेखनी की जो बाह्य साधना भाषा का सौंदर्य ग्रहण करने में लगी हुई थी, वह भी छायावाद में अपने मन के अनुकूल अभिव्यंजना-शक्ति पा गई।"

"छायावाद में आपको सबसे पहले किसकी रचना ने आकर्षित किया, और अन्त में किसकी रचना से आपका जीवन अनुरञ्जित हुआ ?"

"काव्य का अध्ययन करने का अवसर मुझे न तो किसी शास्त्रीय विधि से मिला, और न किसी गुरुजन से। सबसे पहले तो निराला जी के मुक्त छन्द ने मेरे उन्मुक्त मन को आकर्षित किया। छन्दों में बँधी हुई और शास्त्रीय विभीषिका से लदी हुई जो कविता पहले मुझे आतंकित कर देती थी अब वही कविता निराला जी के छन्दों में मेरे मन को झंकृत करने लगी। जैसे स्वामी सत्यदेव की पुस्तकों से मेरे मन को एक ओजस्वी उत्साह मिला, वैसे ही निराला जी की रचनाओं से भी। लेकिन मुझे ऐसा जान पड़ता है कि बाह्यतः ओजोन्मुख होने पर भी मेरा अन्तस्तल बहुत सुकुमार और तरल है। मेरे इस अतल मन की रुचिर रचना पंतजी में मिली। अब तो मैं केवल पंत जी की रचनाओं में ही अपने मन का सब-कुछ पा जाता हूँ—भाषा भी, कला भी, संस्कृति भी, और युग की प्रगति भी।"

"क्या महादेवी जी की रचनाएं आपके मन को विश्राम नहीं देतीं ?"

"महादेवी जी की रचनाओं को मैं अपनी स्वर्गीया बहन की आँखों से देखता हूँ। उनकी रचनाओं में बहन की आत्मा ही अपनी अभिव्यंजना पा जाती है। बहन के प्रति पूर्ण श्रद्धालु होकर भी मेरी कुछ अपनी समस्याएं हैं, इसलिए मैं पंतजी में अपना मनोजगत् पाता हूँ। वैसे मुझमें मेरा बहन से भिन्न कुछ भी नहीं है, फिर भी ज्योत्स्ना से निःसृत ओस-बिन्दु का एक विरल विश्व भी तो बन जाता है।"

छायावाद के प्रमुख कवियों के प्रभाव का विश्लेषण करते हुए देखकर मैंने उनसे पूछा—"छायावाद और रहस्यवाद क्या एक

ही वस्तु है ? यदि नहीं तो दोनों में क्या अन्तर है ? प्रगतिवाद की इन दोनों के साथ क्या संगति आपकी दृष्टि में है ?"

उन्होंने कहा—"मेरी समझ में छायावाद और रहस्यवाद दोनों एक चीज नहीं हैं। द्विवेदी-युग में शुक्लजी जिस 'मैटर आफ फैक्ट' का निर्देश कर चुके हैं, ठीक उसी की दूसरी दिशा छायावाद है, जो विषय की इतिवृत्तात्मकता को न लेकर केवल उसकी जीवन-स्पर्शिता को लेता है। किसी वस्तु की इतिवृत्तात्मकता बहुत-कुछ ज्ञान-विज्ञान के समीप रहती है, किन्तु जीवन-स्पर्शिता या छायावाद भाव के समीप। एक हमें सांगोपांग वस्तु या पदार्थ-पाठ-सा लगता है तो दूसरा सार-अंश-जैसा। इतिवृत्तात्मक कविता का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है तो छायावाद का सूक्ष्म प्राण से। इतिवृत्तात्मक दृष्टि से पद्यकार यदि एक पुष्प के सर्वाङ्ग का विवरणात्मक वर्णन करेगा तो जीवन का छायावादी कवि उस पुष्प के भीतर से केवल उस प्राणमय जीवन को अपनायगा, जो उसके साथ आत्मीयता स्थापित किये हुए है। इस प्रकार की काव्यानुभूति विश्व की समग्र सृष्टि के साथ कवि-हृदय को एकात्म कर देती है। अनेक में एक ही चेतन के आभास से तो परब्रह्म के 'एकोऽहं द्वितीयो नास्ति' का बोध होता है। छायावाद इस बोध-मार्ग का एक साहित्यिक सोपान है। जिसकी पूर्णता रहस्यवाद में है।

जिस प्रकार 'मैटर आफ फैक्ट' से आगे की चीज छायावाद है, उसी प्रकार छायावाद से आगे की चीज रहस्यवाद है। छायावाद में यदि एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है अथवा आत्मा का आत्मा के साथ सन्निवेश है तो रहस्यवाद में आत्मा का परमात्मा के साथ। एक में लौकिक अभिव्यक्ति है, दूसरे में अलौकिक। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे भी अपने ही समान सप्राण पाते हैं तो यह हमारे छायावाद की आत्मा-

भिव्यक्ति है। परन्तु उसी पुष्प में जब हम किसी विश्व-व्याप्त परम चेतन का विकास पाते हैं तो यह हमारी रहस्यानुभूति हो जाती है। निखिल सृष्टि में एक ही परोक्ष सत्ता का आभास रहस्यवाद है। प्राचीन संतों की वाणी रहस्यवाद से भरी पड़ी है, उसका सम्बन्ध सगुण और निर्गुण उपासना द्वारा परमात्मा से है। वर्तमान युग में उपासना द्वारा जिस रहस्यवाद की सृष्टि हो रही है उसमें अभिव्यक्ति तो निर्विकार चेतन निर्गुण शक्ति की ही है, परन्तु वह धर्ममूलक न होकर कला (सौंदर्य)-मूलक है। कला-मूलक होने से ही आधुनिक रहस्यवाद की शैली बदल गई है।

प्रगतिवाद को मैं पंतजी के शब्दों में उपयोगितावाद का ही दूसरा रूप समझता हूँ। वैसे सभी युगों में प्रगति होती रही है, पर आधुनिक प्रगतिवाद में ऐतिहासिक विज्ञान के आधार पर जन-समाज की सामूहिक प्रगति की पुकार है। प्रगतिवाद कला के क्षेत्र में उपयोगिता को और जीवन के क्षेत्र में यथार्थता को लेकर चल रहा है। इस प्रकार एक ओर वह ललित-कला से भिन्न हो रहा है, दूसरी ओर आदर्शवाद से। रहस्यवाद की अपेक्षा छायावाद से उसकी तुलना अधिक संगत हो सकती है, क्योंकि उसी के भग्नावशेषों पर उसका महल उठ रहा है। मेरी दृष्टि में द्विवेदी-युग के बाद छायावाद की जैसे आवश्यकता आ पड़ी वैसे ही छायावाद के पश्चात् प्रगतिवाद को। छायावाद से प्रगतिवाद कला-पक्ष और जीवन-पक्ष दोनों में ही भिन्न है। इन दोनों में अन्तर राजनीतिक दृष्टि से भी है। वैसे छायावाद और प्रगतिवाद दोनों में वेदना प्रधान है। यह वेदना अतृप्ति की है। छायावाद की अतृप्ति में आध्यात्मिक वेदना है, प्रगतिवाद की अतृप्ति में भौतिक वेदना। यों कहें, छायावाद की अतृप्ति निवृत्ति की ओर है, प्रगतिवाद की अतृप्ति प्रवृत्ति की ओर।"

बादों की विवेचना की गम्भीरता से बचने के लिए मैंने फिर जीवन को स्पर्श करने के लिए उनसे पूछा,—"वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिनका आपके ऊपर प्रभाव पड़ा है?"

"जैसा कि मैंने अपने बचपन की बातें बताते समय कहा है, मुझे पढ़ने-लिखने का सुयोग कभी नहीं मिला। फिर भी हिन्दी के माध्यम से मैंने देशी-विदेशी कलाकारों का परिचय पाने की चेष्टा की है। जैसे आस्तिक ईश्वर से अपनी आत्मीयता, उसे बिना जाने ही स्थापित कर लेता है, वैसे ही मैंने भी कुछ लेखकों को बिना पढ़े ही उनसे आत्मीयता स्थापित कर ली है। अंग्रेजी से अनभिज्ञ होने पर भी उसके कुछ लेखक मेरे मानसिक जगत् के परिवार में बसे हुए हैं। उनके नाम कहाँ तक गिनाऊँ। उपन्यास-कारों में विक्टर ह्यूगो, तुर्गनेव, टॉल्स्टॉय मेरे आदरणीय हैं। कवियों में अंग्रेजी के सभी रोमांटिक कवि, विशेषकर कीट्स से मैं बहुत स्नेह करता हूँ। आपको आश्चर्य होगा कि मैंने उसकी कोई भी पंक्ति नहीं पढ़ी है; फिर भी जैसे फूलों, पक्षियों और नदियों की भाषा से अनभिज्ञ होते हुए भी उनके व्यक्तित्व के लिए हमारे हृदय में स्थान है वैसे ही अपने अनपढ़े कवियों के लिए; जिनमें कीट्स सुन्दर निरीह जीवन की तरह प्यारा लगता है।

देशी कलाकारों में अन्य प्रांतों का साहित्य हिन्दी में मुख्यतः कथा के रूप में ही आया है। बँगला-कथा-साहित्य को छोड़कर मुझे किसी अन्य प्रांतीय कथा-साहित्य को पढ़ने में अनुराग नहीं हुआ। जिस तरह शरत् का साहित्य बंगीय समाज का प्रति-चित्र होते हुए भी वह सम्पूर्ण भारतीय आर्य-परिवार का जीवन-चित्र जान पड़ता है उस तरह अन्य प्रांतों का कथा-साहित्य नहीं। अन्य प्रांतीय कथा-साहित्य में स्थानीय रंगत (Local Colour)

इतनी प्रगाढ़ रहती है कि उसमें भारतीय जीवन का हार्दिक तारतम्य नहीं मिलता।"

प्रत्येक शब्द को अच्छी तरह नाप-तोलकर बोलने में द्विवेदी जी एक ही हैं। कभी-कभी मैं जब वाक्य पूरा करने के लिए कोई शब्द रखने लगता तो वे तत्काल टोक देते और शिल्पी की भाँति कोई सुन्दरतम शब्द रखते। शब्द की खोज में चश्मे के भीतर चमकती उनकी आँखें और भी चमक उठतीं। उनके हाथ हिलते हुए-से, शब्दों को सोचने में मात्र सहायता करते। उनकी मौलिकता का यही जैसे रहस्य हो। उन्हें कुछ विश्राम देने के लिए मैंने उनसे तम्बाकू खाने के लिए कहा और वे भी, जैसे इसके लिए तैयार बैठे हों, इस प्रस्ताव को, सुनते ही सुरती और चूना मलने लग गए। दो मिनट में सुरती फाँककर बोले, "आप आगे के प्रश्न पूछिये।"

मैंने कहा—"आप कवि से आलोचक कैसे बन गए? आलोचक बनने पर भी आपकी शैली में कोमलता कवि की-जैसी ही बनी है, यह क्यों?"

"सच तो यह है कि", उन्होंने बताया, "जहाँ तक मनुष्य अपने पारिवारिक सम्बन्धों से बँधा हुआ है, वहाँ तक वह कवि रहेगा। विशेषकर सरल निरीह शैशव तो कवि का ही स्वरूप है। कालान्तर में संसार की जटिलताओं के कारण मनुष्य का मन जब नीरस हो जाता है तब इससे कवित्व वैसे ही छूट जाता है, जैसे बचपन का कोई सुखद स्वप्न। मेरे कवित्व को संसार की कृत्रिमता तो स्पर्श नहीं कर सकी, क्योंकि मुझे आज भी बन-विहग, निर्झर, लता-पुष्प आकर्षित करते हैं, किन्तु विषमता ने कवित्व को सोख लिया है, मेरे जीवन की तरह। यही मेरे आलोचक बन जाने का रहस्य है।

रही शैली की कोमलता की बात। उसमें पंतजी की भाषा,

रवीन्द्रनाथ की भावात्मकता और अपने स्वल्प जीवन की पत्रकारिता का प्रभाव है। कोमलता का प्रधान कारण मेरी बहन का व्यक्तित्व है।"

"आपको किस कृति को लिखकर सर्वाधिक संतोष हुआ है?"

"पथ-चिह्न!"

द्विवेदीजी अत्यन्त दुर्बल और असक्त शारीरिक स्वास्थ्य वाले व्यक्ति हैं और मेरी जानकारी में उनकी तुलना 'कारवाँ' के लेखक श्री भुवनेश्वर से ही हो सकती है। ये दोनों लेखक कुछ थोड़े-से जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण के अन्तर को लिये हुए समान रूप-रंग के हैं—प्रतिभा की प्रखरता और मौलिकता में बे-जोड़। मैंने द्विवेदीजी से पूछा—"आप दैहिक और मानसिक आयास न कर सकने पर भी इतना कैसे लिख सके?"

"देखिये," वे बोले, "लिखने-पढ़ने का काम मुझे कभी सुखद नहीं जान पड़ा है। आज भी नहीं जान पड़ता। शरीर में इतनी सामर्थ्य नहीं है। वह पीढ़ियों से शोषित वंश का अति क्षीण अंश-मात्र है। लिखने-पढ़ने की अपेक्षा मैं किसानी करना अधिक पसन्द करता हूँ, लेकिन अब तो इसके लिए भी किसी नये स्वस्थ युग का शरीर धारण करना पड़ेगा। वर्तमान स्थिति में एक विवश मजदूर की तरह चाहे-अनचाहे लेखनी के सम्बल पर चलना पड़ रहा है। इतना अधिक लिखने का कारण यह न समझिए कि मेरी लिखने की गति तीव्र है। नहीं, मेरी लिखने की गति बहुत ही मन्द है। छोटी पुस्तक लिखने में भी मुझे पर्याप्त समय लग जाता है। इससे आप अनुमान कर सकते हैं कि बड़ी पुस्तकों के लिखने में मुझे कितना समय लगा होगा। इस गति का कारण शारीरिक स्वास्थ्य तो है ही, साथ ही मैं लेखन और सम्पादन दोनों कार्य साथ-साथ करता जाता हूँ, जिससे देर लगती है। ऐसे भी

दिन आए हैं, जब सारी रात जागकर केवल एक ही शब्द लिख पाया हूँ ।"

यहीं मैंने प्रश्न किया—"लेखन-काल में आपकी मनः स्थिति कैसी रहती है ?"

"मेरी मनः स्थिति आयरिश कवि ईट्स की-सी रहती है। जैसा कि मैंने कहा है, मुझे लिखने-पढ़ने का कार्य सुखद नहीं जान पड़ता। इसलिए कलम और पुस्तकों की अपेक्षा अपने अन्तर्पट पर इन्द्रियों की अनुभूति द्वारा ही विचारों का ग्रहण और विग्रहण करना मुझे सुविधाजनक जान पड़ता है। लिखने-पढ़ने की अपेक्षा अनुभूति का साधन सुविधाजनक होते हुए भी निरन्तर चिन्ताओं से शिथिल मस्तिष्क के लिए चिन्तना और अनुभूति भी एक भार बन गई है। मन में कुछ अनुकूल और प्रतिकूल मनोभाव तो संचित रहते ही हैं, लेकिन लिखते समय या लिखने का प्रयास करते समय वे तत्काल स्याही की बूँदों में नहीं आ जाते। ब्राह्म मुहूर्त में जिस तरह प्रातः-विहग अनिश्चित दिशा की ओर उड़ने के लिए अपने पंखों को स्पन्दित करने का प्रयास करता है उसी प्रकार मस्तिष्क के कुहासे में मैं अपने मनोभावों को गति देने का प्रयत्न करता हूँ। अनिश्चित मानसिक स्थिति के भीतर से ही क्रमशः स्पष्टता प्राप्त कर लेता हूँ। अपने साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में मुझे ऐसी कठिनाई नहीं मालूम पड़ती थी, क्योंकि शोषित-वर्ग का दुखी प्राणी होते हुए भी उस समय मेरी शैशव की इन्द्रियों में ताजगी थी। किन्तु इस अकाल वार्धक्य के युग में मेरी मनः स्थिति जटायु की-सी हो गई है।"

"आप साहित्य के एकान्त साधक हैं। क्या आपकी दृष्टि में और कोई जीविकोपयोगी कार्य किये बिना साहित्य से जीविका चल सकती है ?"

"नहीं !", उन्होंने दृढ़ता से कहा, "लेकिन साहित्यिक यदि सचमुच

साहित्यिक है तो उसे मधुकरी-वृत्ति द्वारा अपनी आजीविका अर्जित करनी चाहिए। यदि साहित्यकार पूँजीपतियों की तरह यश, वैभव और ऐश्वर्य के लिए ही अपना लेखन-प्रयास नहीं कर रहा है तो उसे अधिकार है कि वह किसी भी साधन-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा अपनी मधुकरी मँगा ले। मैं तो ऐसा ही एक भिक्षुक हूँ। यदि कोई उसकी अवहेलना करे, उसकी झोली न भरे, तो इससे साधक साहित्यकार का कुछ घटता-बढ़ता नहीं। यदि कृष्ण सुदामा को रिक्त हस्त लौटा देते तो इसमें उन्हीं की मर्यादा खण्डित हो जाती। यह मधुकरी-वृत्ति अकर्मण्य भिक्षा-वृत्ति से भिन्न है। इसमें तो साधक समाज से जितना लेता है उससे ज्यादा देता है।"

"हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा?"

"साहित्य के भविष्य का सम्बन्ध समाज के भविष्य से है। समाज में स्वार्थ और क्षुद्रता की पूजा हो रही है, अधिकांश लेखक भी उसके शिकार हैं। यह शुभ चिह्न नहीं है, क्योंकि इससे साहित्यकार की साधना को ठेस पहुँचती है। समाज में हम देख रहे हैं कि तीन महीने भी जेल जाने वाला धूर्त्त शासन की बागडोर सँभालने में सहारा दे रहा है और जीवन-भर तपने वाला साहित्यकार भूखों मर रहा है। हृदय-परिवर्तन के बिना क्या जेल, क्या बाहर, साधना नहीं है। नीलाम की तरह पद बँट रहे हैं और जिनके बल पर स्वराज्य आया है, उन्हें भुला दिया गया है। जब ऐसे साहित्यकार, जो हिन्दी की कीर्ति के रक्षक हैं, उपेक्षित हैं; तब साहित्य में कूड़ा-करकट भले ही भर जाय सबलता की कमी रहेगी। यह निराशावाद की बात नहीं है, वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन है। यों हिन्दी में जिस गति से सृजन होरहा है, वह अभिनन्दनीय है। परन्तु स्थायित्व के लिए साहित्य-साधकों को प्रतिष्ठा यदि न हुई तो भविष्य के स्वप्न चूर-चूर हो जायंगे। क्योंकि संघर्षशील

साहित्यकार आखिर कब तक विडम्बनाओं के बीच स्थिर रह सकेगा। आत्मा की शक्ति भी शरीर के पोषण पर अवलम्बित है और आज वही नहीं हो रहा। साहित्यकार भूखा-प्यासा बढ़ रहा है, इस आशा से कि युग बदलेगा। मेरी सम्मति में मनुष्य की पूर्णता पूँजीवाद के दाह-संस्कार के बिना सम्भव नहीं; और यही साहित्यकार की भावी पीढ़ी को करना होगा। बस, साहित्यकार द्वारा ही ऐसे साहित्य की सृष्टि होगी, जिससे जन-साधारण लेनिन और गांधी हो जायंगे।"

जब उन्होंने अपना उत्तर समाप्त किया तो मैंने घड़ी में देखा, रात के साढ़े ग्यारह बज रहे थे।

११

श्री स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'

'विपथगा', 'परम्परा' और, 'कोठरी की बात' आदि कहानी-संग्रहों से आधुनिक हिन्दी-कहानी को नवीन रूप देने वाले, 'शेखर: एक जीवनी'-जैसे अनूठे उपन्यास व 'त्रिशंकु'-जैसे आलोचना-ग्रन्थ के लेखक, 'चिन्ता' और 'इत्यलम्' के प्रयोगवादी कवि तथा 'प्रतीक' मासिक के सम्पादक श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन को लोग 'अज्ञेय' नाम से ही अधिक जानते हैं। अभी-अभी वे वात्स्यायन को अधिक महत्त्व भले ही देने लगे हों, लेकिन हिन्दी में उनका उदय 'अज्ञेय' उपनाम से ही हुआ और उनका यही नाम आज भी सबकी जबान पर है। यही बात सोचकर उनसे भेंट करते समय मैंने सबसे पहले जो प्रश्न किया, वह था—"आपके 'अज्ञेय' उपनाम का रहस्य क्या है ?"

उन्होंने अपने क्रांतिकारी जीवन का संक्षिप्त-सा विवरण देते हुए कहा —"जब मैं दिल्ली-जेल में था, तब कुछ कहानियाँ लिखकर मैंने श्री जैनेन्द्र जी के पास भेजीं। कहानियाँ अवैध तरीके से बाहर गई थीं और यों भी चाहता था कि स्वतन्त्र विचार हो, इसलिए लेखक का नाम नहीं दिया जा सकता था। जैनेन्द्र जी ने एक कहानी बनारस के 'जागरण' में भेज दी। लेखक का नाम बताया नहीं जा सकता, इस नाते वह अज्ञेय है, कुछ ऐसा सोच-

कर जैनेन्द्र जी ने यही नाम दे दिया। मुझे नाम ना-पसन्द था, लेकिन चल गया, सो चल गया। आखिर नाम ही तो है।"

'अज्ञेय' जी का जीवन अंग्रेजी अथवा विदेशी लेखकों के ढङ्ग का रहा है। उसको और स्पष्ट करूँ, तो यों कहा जा सकता है कि जैसे विदेशी लेखकों की प्रतिभा का विकास स्वाभाविक ढङ्ग से होता है, वैसा ही 'अज्ञेय' जी का हुआ है। उसके मूल में सम्पन्न और शिक्षित परिवार हो या उनकी स्वयं की प्रतिभा, वे स्वतन्त्र चेता और मौलिक विचारक रहे हैं। उनका विकास हिन्दी में सबसे निराला नहीं तो कम-से-कम अपने ढङ्ग का अकेला है। इस बात का मैं अपने ८-१० वर्ष के सम्पर्क से जानता हूँ। यह सम्पर्क सन् '४१ में आरम्भ हुआ था, जब वे आगरा में होने वाले युक्त-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अन्तर्गत प्रगतिशील लेखक-सम्मेलन का सभापतित्व करने आए थे। उस समय उनके व्यक्तित्व को देखकर मेरे मन में जो विचार आया था, वह आज भी बदला नहीं है। वह विचार यह था कि हिन्दी के साहित्यकारों को, आकर्षक व्यक्तित्व की दृष्टि से, यदि अन्य भाषा-भाषियों के सम्मुख रखा जाय तो उनमें 'अज्ञेय' जी का नाम अवश्य होगा। तब तक मैंने हिन्दी के अन्य साहित्यकारों के दर्शन नहीं किए थे। आज तो मैं लगभग सभी प्रमुख कलाकारों के दर्शनों का लाभ ले चुका हूँ। इसलिए यदि आज मुझे हिन्दी के प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिले तो मैं सर्वश्री निराला, पन्त और राहुल के साथ 'अज्ञेय' जी का नाम अवश्य रखूँगा। यह चुनाव व्यक्तित्व की विशालता की दृष्टि से ही होगा, किसी अन्य दृष्टि से नहीं, यह ध्यान में रखने की बात है।

आप सोच रहे होंगे कि मैं कहाँ-से-कहाँ पहुँच गया। लेकिन ऐसा मत सोचिए। मेरा अगला प्रश्न इस स्पष्टीकरण द्वारा और स्पष्ट हो जायगा, यह सोचकर मैंने यह लिखा है।

हाँ तो, जब 'अज्ञेय' नाम का रहस्य मेरी समझ में आ गया, तब मैंने उनसे कहा—"अब आप अपने बाल्य-जीवन और परिस्थितियों के सम्बन्ध में कुछ बताइए।"

अज्ञेय जी बोले—"मैं बचपन में पिताजी के साथ अधिक रहा। वे पुरातत्त्व-विभाग में होने के कारण अधिकतर घूमते ही रहते थे। मुझे भी वह आदत पड़ गई है। मेरा बहुत-सा समय खण्डहरों में बीता है। जन्म उत्तर-प्रदेश में हुआ। फिर कुछ वर्ष काश्मीर में रहा। दो-तीन साल तक हम लोग नालन्दा में भी रहे। इसके फलस्वरूप मुझे बहुत-सी ऐसी चीजों का ज्ञान हो गया, जिनका ज्ञान लोगों को आम तौर पर नहीं होता। पिताजी के पुरातत्त्वज्ञ होने के कारण मेरी रुचि अजीब दिशाओं में जागृत हुई। बचपन में अक्सर अकेला रहता था। तीसरे-चौथे साल की बातें आज भी अच्छी तरह याद हैं। हम भाई-बहनों में से कोई कभी स्कूल नहीं गया। मैं दो-अढ़ाई महीने 'कन्वेण्ट' में गया और १ महीना काश्मीर में स्कूल में गया। बस यही स्कूली जीवन है। बड़ी बहन से कुछ पढ़-लिख लेते थे। जब मैट्रिक की परीक्षा देने का निश्चय हुआ, तब जमकर बरस-ग्यारह महीने पढ़ाई कर ली, बस। मैंने मद्रास में सीनियर कैम्ब्रिज की तैयारी की थी, पर फिर पंजाब मैट्रिक की परीक्षा दे दी। बचपन में कौतूहल सबसे बड़ी चीज थी। मिट्टी की चीजें बनाने का बेहद शौक था। शौकों की बात की जाय तो ऐसे-ऐसे शौक थे कि आप आश्चर्य करेंगे।"

मैंने कहा—"तब भी बतलाइए तो सही?"

अज्ञेय जी कुछ झिझकते-से बोले—"मुझे झींगुर पकड़कर उसकी टाँगें तोड़ने में बड़ा मजा आता था। डॉक्टरी का भी शौक था, यानी घर की दवाइयाँ मिलाकर छोटे भाइयों को पिला दिया करता था। मेरे साथ 'A healthy child must be naughty' वाली बात थी। मुझे बच्चों की 'कम्पनी' कम मिली। उसका

कारण निरन्तर प्रवास था। क्रमशः घूमना ही मुख्य हो गया। अकेलेपन में पशु-पक्षियों से दोस्ती हो जाती थी। वह आज भी उसी प्रकार हो जाती है। लययुक्त गति का आकर्षण मेरे लिए बहुत रहा। हिरन का कूदना, रेस के घोड़े की दौड़ और अच्छी तैराकी से मैं मुग्ध हो जाता हूँ।"

यहीं मैंने पूछा—"क्या आपको चित्र-कला और संगीत का भी शौक रहा है ?"

उन्होंने बताया—"संगीत सीखने की सुविधा कभी नहीं मिली। वैसे भी पंजाब में संगीत सबसे कम जरूरी कला समझा जाता है। घर में हारमोनियम जरूर था, पर मुझे तार-वाद्य (String instrument) अच्छे लगते हैं और वायलिन विशेष प्रिय है। चित्रकारी थोड़ी-बहुत की; पेस्टल-ड्राइङ्ग और मूर्ति-कला की ओर प्रवृत्ति रही। उन्नति के अवसर कम मिले। हाँ, ८-१० साल की उम्र से फोटोग्राफी का अवश्य शौक रहा। बचपन में रिकार्ड रखने का अधिक शौक होता है, वही मैं करता था। अब पोर्ट्रेट-विशेषकर मूड्स में मुझे अधिक रुचि है; कुछ लैंड-स्केप में भी। केवल अनुकृति और प्रतिकृति में नहीं।"

बहुधा महापुरुषों और कलाकारों के जीवन पर माता का प्रभाव पिता की अपेक्षा अधिक पड़ता है। यही सोचकर जब मैंने 'अज्ञेय' जी से प्रश्न किया कि आपके ऊपर पिता का प्रभाव अधिक है या माता का, तो वे कहने लगे—"पिता के प्रति मेरे मन में अगाध श्रद्धा रही है, माता के प्रति नहीं। यह विचित्र-सी बात है, लेकिन इसका कारण यह भी हो सकता है कि माँ की बीमारी के कारण हम अधिकतर पिताजी के साथ ही रहते थे। माँ बीमार रहती थीं, इसलिए भी हम स्वतन्त्र रहते थे। लेकिन यह न समझिए कि पिता के गुणों का ही अनुकरण हम लोगों ने किया हो। पिताजी की कई विशेषताओं का प्रभाव नितान्त प्रतिकूल

भी पड़ा। वे पुरातत्त्वज्ञ थे। अनेक विषयों पर उनके विचार कट्टर और पूर्वाग्रह-युक्त होते थे। और वहाँ युक्ति-संगत बात भी वे सुनना चाहते थे। उदाहरणतया आर्यों के बाहर से आये होने की कल्पना भी उन्हें असह्य थी। फलतः बहुत-से ऐतिहासिक विषय हम लोगों के बीच वर्जित से हो गए थे—उनकी चर्चा सदैव कटुता उत्पन्न करती थी। हम भाइयों में कोई भी इतिहास-पुरातत्त्व की ओर नहीं झुका, इसके मूल में यह बात अवश्य रही होगी।"

"आपकी साहित्य-साधना कब और कैसे आरम्भ हुई और उसके लिए आपको प्रेरणा कहाँ से मिली ?"

"छः साल की उम्र से ही मुझे तुकबन्दी का शौक लग गया था। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं में लिखता था। उन तुकबन्दियों में आम तौर पर किसी-न-किसी व्यक्ति की आलोचना रहती थी—कभी मास्टर की, कभी माली की, कभी पिताजी के दफ्तर की और कभी किसी भाई की। सन् '२० के आन्दोलन में अंग्रेजी छोड़ दी। विद्रोह शुरू हुआ। सन् '२३ में 'आनन्द-बंधु' नाम की हस्त-लिखित पत्रिका निकाली। उस समय मैंने 'नियाग्रा-प्रपात' पर एक लम्बी कविता लिखी थी, जिस पर प्रसन्न होकर पिताजी ने ५) रु० का पुरस्कार दिया था। इस कविता में नियाग्रा के देवता को बलि दी जाने वाली लड़की की कथा को आधार बनाया था। कथा श्री शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' से पाई थी। उस पुस्तक के चित्रों की छाप मन पर गहरी पड़ी। जो रुपये मुझे इस कविता पर पुरस्कार-स्वरूप मिले, उन्हीं से कागज खरीदकर सम्पादन-कार्य प्रारम्भ किया। अधिकांश पत्रिका मेरे ही द्वारा लिखी जाती थी। पिताजी के मित्र रायबहादुर हीरालाल और त्रिवेंद्रम के डाक्टर मौद्गल हमारे पत्र में बड़ी दिलचस्पी लेते थे। डॉक्टर मौद्गल की आलोचना से तो विशेषरूप से पथ-प्रदर्शन

हुआ। उनका कहना था कि समाज की आलोचना लेखक का बड़ा भारी कर्तव्य है और कलम तथा कोड़े में बराबर दोस्ती रही है। वे अंग्रेजी में लिखते थे। हमारी इस पत्रिका के १४-१५ ग्राहक थे। ७ दिन पहले घर में ही 'सर्कुलेट' करते थे और आलोचना हो जाने के बाद बाहर भेजते थे। इस पत्रिका के कुछ अंक अब भी मेरे पास पड़े हैं। बी० एस-सी० के लिए जब मैं पंजाब गया तो वहाँ पर कालिज की पत्रिका का सम्पादक मुझे बनाया गया। उसमें कविता, कहानी और लेख लिखता रहा। यों मेरे लेखन का प्रारम्भ हस्त-लिखित मासिक-पत्रिका से समझिए। प्रेरणा के लिए डॉक्टर मौद्गल के नाम का उल्लेख हो सकता है।"

"वे देशी-विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिन्हें आप अधिक पसन्द करते हैं और जिनसे आप प्रभावित हुए हैं?"

इस प्रश्न पर कुछ देर तक वे सोचते रहे और फिर तकिए को दोनों कुहनियों के नीचे दबाकर बैठते हुए वे बोले—"मुझे ब्राउनिङ्ग, हैवलॉक एलिस और बर्ट्रेण्ड रसल सदा अच्छे लगते रहे हैं। अब भी उन्हें अक्सर पढ़ लेता हूँ। लेकिन अब पहले की अपेक्षा आकर्षण कम हो गया है। डी० एच० लॉरेंस मैंने काफी पढ़ा है। बाइबिल भी मुझे विशेष प्रिय रही है। बाइबिल का वेग, जिसे 'गस्टो' कहते हैं, बड़ा आकर्षक है। इसके साथ ही उसका खुलापन और पैना निर्मोह, जो अपने से बड़ी चीज को पकड़ लेता है, भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। गद्य के रूप में बाइबिल की भाषा के सौन्दर्य के विषय में तो कहना ही क्या है! संस्कृत में कालिदास के सभी ग्रंथों और वाल्मीकि रामायण को मैंने पढ़ा है। लेकिन फिर भी मैं कहूँगा कि जितना पढ़ना चाहिए था, उतना संस्कृत-साहित्य मैंने नहीं पढ़ा। ३०-४० धार्मिक पुस्तकें भी पढ़ी हैं। बृहत्-कथा-मंजरी, कुमार-संभव और रघुवंश के कुछ भाग

पिता जी से सुने हैं। यों अनुवाद काफी पढ़ा। मेजर बसु की 'सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज' आद्यन्त पढ़ गया था।

हिन्दी में श्री मैथिलीशरण गुप्त को मैं अपना गुरु मानता हूँ, भले ही वे स्वयं इससे चौंकें। उनकी कविताएं 'सरस्वती' में निकलती थीं। मैं उन्हें कापी में नकल करके रख लेता था। सन् १९०३ से १९२१ तक नियमित रूप से 'सरस्वती' हमारे यहाँ आती थी—फाइल रखी जाती थी। १९१६ में ध्यान गया तो पहली फाइलों से गुप्त जी की कविताएं नकल करके रखीं। श्रीधर पाठक की कुछ कविताएं नकल कीं। 'केशों की कथा' शीर्षक कविता तो सचित्र ही काटकर रखी थी। गुप्त जी का 'जयद्रथ-वध' मेरी बड़ी बहन को मुखाग्र था। मैं उससे सुना भी करता था। गुप्त जी की 'साकेत' और 'यशोधरा' ये दो पुस्तकें मुझे प्रिय लगती हैं। रवीन्द्रनाथ को पहले अंग्रेजी में पढ़ा। खरीदने को दाम नहीं थे; इसलिए कहीं से लेकर उनकी कविताएं नकल कर ली थीं। मद्रास में कालिज में 'टैगोर-स्टडी-सर्किल' बना रखा था। वहीं उनकी अंग्रेजी से प्रभावित होकर एक गद्य-काव्य लिखा, जो कहीं छपाया नहीं। तब मैं १४-१५ वर्ष का था। मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियाँ विशेष प्रिय हैं। दुनिया के छः कहानी-लेखक चुने जायं तो मेरी राय में उनमें उनका नाम अवश्य रखा जायगा। प्रेमचन्द जी के 'प्रेमाश्रम' ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। जेल में महादेवी, पन्त और निराला को भी पढ़ा; लेकिन प्रभाव सबसे अधिक जैनेन्द्र का पड़ा। उन्हीं के प्रभाव को उल्लेखनीय समझता हूँ। इसके अतिरिक्त जिन व्यक्तियों का प्रभाव पड़ा, उनमें फॉरमेन कालिज के भौतिक-विज्ञान के प्रोफेसर जेम्स मार्टिन बनेड और उनकी पत्नी मरियम बनेड का प्रभाव उल्लेखनीय है। वैज्ञानिक चिन्तन और विवेचन की शिक्षा प्रो० बनेड से मिली। उनसे घनिष्ठ सम्पर्क रहा और

अनेक विषयों पर चर्चा होती रही। मिसेज बनेड की रुचि साहित्य और समाज-शास्त्र में थी। बनेड-दम्पति के घर जाकर विदा के समय नमस्कार करके घण्टों खड़े-खड़े बात करते रहना साधारण बात थी। 'त्रिशंकु' मैंने उन्हें समर्पित किया है, अंग्रेजी-कविताओं का संग्रह मिसेज बनेड को।"

"किस कृति को लिखकर आपको सर्वाधिक सन्तोष हुआ है?"

"यह बताना मुश्किल है, क्योंकि इसके लिए सन्तोष की परिभाषा करनी पड़ेगी। बात दरअसल यह है कि अलग-अलग प्रकार का संतोष होता है। वैसे मुझे अपनी एक कहानी बहुत प्रिय है। नाम है—'कड़ियाँ'। उसमें 'इमोशनल शॉक' लगता है। यह कहानी दो घटनाओं से बनी है। छः महीने तक मेरी समझ में नहीं आया कि इन दो घटनाओं में परस्पर क्या सम्बन्ध है? लेकिन मन कहता था कि हाँ, सम्बन्ध है, पर दिखता नहीं है कि कैसा सम्बन्ध है। एक दिन अचानक देखा कि दोनों घटनाएं परस्पर सम्बन्धित हैं और मिलकर उस व्यक्ति को प्रेरित कर सकती हैं। इसी में उस कहानी की 'यूनिटी' है। उस कहानी मैं अपनी सफलता मानता हूँ। वह टेकनीक के अनोखेपन के साथ-साथ एक मनोवैज्ञानिक हलचल का भी शमन करती है और अपने ढंग की नवीन कहानी होने के कारण भी उसका महत्त्व है। जहाँ तक कविताओं का सम्बन्ध है, 'इत्यलम्' के दो खण्डों में संकलित कुछ कविताएं मुझे ज्यादा अच्छी लगती हैं। उनमें 'रात होते, प्रात होते,' 'मुक्त है आकाश,' 'नन्हीं-शिखा,' 'बाहु मेरे रुके रहे,' 'पानी बरसा,' 'माघ,फागुन,चैत,' 'जन्म-दिवस' तो और भी अच्छी लगती हैं। 'विपथगा' की दो-एक कहानियाँ भी प्रिय हैं। बाकी संग्रह 'परम्परा' का अधिक अच्छा बन पड़ा है।"

अज्ञेय जी टेकनीशियन हैं और शैलीकार की दृष्टि से हिन्दी में उनका अपना स्थान है। उनकी कृतियों में एक विशेष प्रकार का तारतम्य और गहराई रहती है। कोई भी कृति हो—छोटी या बड़ी—एक निश्चित रेखा में उसका विकास होगा; यह टेकनीशियन की विशेषता का परिचायक है। इसके लिए साधना की भी आवश्यकता है। यही सोचकर मैंने उनसे पूछा—"सृजन के समय आपकी मनःस्थिति क्या होती है?"

उन्होंने कहा—"कहानी तो मैं आम तौर पर दो 'सिटिङ्ग' में लिखता हूँ। कभी-कभी एक सिटिंग में भी लिख डालता हूँ। उपन्यास के लिए ४-६ महीने सोचना पड़ता है। नोट्स लेता हूँ। जब सामग्री तैयार हो जाती है, तब १०-१२ घण्टे की सिटिंग्स में लिखता हूँ। 'शेखर' के दूसरे भाग का आखिरी खण्ड एक सिटिङ्ग में सबेरे ८ बजे से रात के २॥ बजे तक लिखा था। बीच में दो बार चाय पी थी। थकने पर टहलने लगता था और उँगलियों के दुखने पर दो उँगलियों से कलम पकड़कर लिखता था। ५०-५५ फुलस्केप पेज तक एक सिटिङ्ग में लिख लेता हूँ। उन दिनों पढ़ना बन्द रहता है। डाक खोलकर भी नहीं देखता। परिचितों तक से भी नहीं मिलता। किसी प्रकार की बाधा नहीं चाहता।

मेरी राय में उपन्यास-लेखक को कम-से-कम छः महीने अनुभव-संचय करना चाहिए। उसके साथ ही संवेदना भी गहरी होनी चाहिए। फिर जीवन में घटनाएं भी होनी चाहिएं। अपने में ही नहीं, दूसरों के जीवन की घटनाओं में भी लेखक की पैठ होनी चाहिए। संवेदना के सहारे अपने ही नहीं, दूसरों के भी अनुभव का संचय न करते रहने से लेखक का 'स्टाक' शीघ्र खत्म हो जाता है और लेखन-कार्य रुक जाता है या पुनरावृत्ति होने लगती है। हमारी कमजोरी तो यह है कि न तो हमारे मन

गहरे होते हैं और न हम ऊँचे उठते हैं। मैं प्रयत्न करता हूँ कि अनुभव के विस्तार और गहराई को बनाए रहूँ। इसलिए नोट्स लेता रहता हूँ और प्लानिंग करता रहता हूँ। यहाँ तक कि कागज पर से लिखने से पहले दो-एक बार तो रचना को मन में ही लिख लेता हूँ। अच्छे वाक्यों, कथोपकथन के अंशों, मार्मिक उक्तियों आदि को नोट करता रहता हूँ और कौन कहाँ जायगा, यह अंकित कर देता हूँ। कोई अच्छी 'इमेज' सूझती है तो उसे लिख लेता हूँ। कभी वाद-विवाद के लिए कोई प्रश्न लिख लेता हूँ। इस अच्छे संचय में से उपन्यास लिखते समय अवसर के अनुकूल उपयुक्त सामग्री ले लेता हूँ या तत्काल पुनः ढाल लेता हूँ।"

इसी बीच जब मैंने उनसे पूछा कि क्या आप प्रत्येक रचना के लिए योजना बनाना आवश्यक समझते हैं, तो उन्होंने बताया—"इसमें दोनों बातें होती हैं। कुछ रचनाओं के पीछे जान-बूझकर योजना बनानी होती है और कुछ रचनाओं के लिए नहीं उदाहरण के लिए कुछ चीजें तो मैंने स्वप्न में ही देखी है और ज्यों-की-त्यों लिख डाली हैं। 'गृह-त्याग' कहानी स्वप्न में देखी हुई कहानी है। मेरा विश्वास है कि स्वप्न अकारण नहीं देखे जाते। उनकी भी एक क्रमबद्ध शृंखला होती है, जिसका जीवन से कहीं-न-कहीं सम्बन्ध होता ही है।"

यह कहते-कहते उन्होंने अपने जेल-जीवन का वर्णन किया। उसी सिलसिले में वे कहने लगे—"जेल में तो मैंने अंधेरे में लिखने का अभ्यास कर लिया था। कागज-पेंसिल सिरहाने रखकर सो जाता था। जब कविता या कोई अन्य चीज सूझती थी तो अन्धेरे में ही लिख डालता था और चुपचाप लिखकर सो जाता था। एक बार मैंने देखा कि मैं स्वर्ग में हूँ, वहाँ बड़े साहब की परेड होनी है। अतः कपड़े धोने होंगे। इसके लिए

साबुन का पार्सल घर से आया है। साबुन खोला, तो उसके लिपटे कागज में मेरे नाम पत्र है। पत्र क्या है, एक लम्बी कविता है। वह मैंने पढ़ी। तभी स्वप्न टूट गया। जागा, तो कविता अभी याद थी। मैंने कागज पर लिखी और फिर सो गया। सबेरे उठा तो कुछ याद नहीं था। कागज पर लिखी कविता देखकर स्वप्न की याद आई। देखा कि कविता बिलकुल दुरुस्त है, केवल दो पंक्तियों में छन्दोभङ्ग था, जो ठीक कर दिया। वह कविता 'चिन्ता' में है—पृष्ठ ७५ पर।"

"अपने समकालीन लेखकों के सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?"

"सच पूछिए तो आजकल के अनेक लेखक ऐसे हैं, जिनकी रचनाएं पढ़ने के बाद लगता है कि हम हिन्दी में जो लिख रहे हैं, सब रद्दी लिख रहे हैं ; हममें महान् लिखने वाले कुछ हैं ही नहीं। फिर मैं सोचता हूँ कि हिन्दुस्तानी लेखक और उसके जीवनानुभव का क्षेत्र इतना सीमित है कि उसमें से बड़ी चीज निकल ही नहीं सकती। इसलिए कभी-कभी सोचता हूँ कि लिखना-पढ़ना बन्द करके पहले इसी परिस्थिति का सुधार करना चाहिए। फिर यदि रहे तो हम लिखेंगे। और यदि हम नहीं रहे तो और तो लिखेंगे। फिर भी अगर मैं लिखता हूँ तो इसलिए कि मुझे कई अन्य लेखकों की अपेक्षा कुछ अधिक सुविधाएं प्राप्त होती रही हैं। उनके सहारे यदि लिख सकूँ तो मुझे लिखना चाहिए। कलम छोड़कर कोड़ा चलाऊँ और कोड़ा छोड़कर कलम ले बैठूँ, यह समझ में आता है। लेकिन जब कोड़ा चलाऊँ तो यह समझ लूँ कि मैं कलम चला रहा हूँ या कि यही श्रेष्ठ कलम है, यह मेरे लिए मुश्किल है ! यह दुहरे कर्तव्य का प्रश्न सबके सामने आता है, आना चाहिए। और जो इसे हल कर सकें, उन्हें करना चाहिए—वे भाग्यशाली हैं।"

अज्ञेय जी, जैसा कि मैं आरम्भ में कह चुका हूँ, स्वाभाविक कलाकार हैं और वे साहित्य में शुद्ध कलाकार की दृष्टि से ही कार्य करते हैं ; इसलिए उनके पास जो दृष्टिकोण है, वह मौलिक है। ऐसे व्यक्ति का जीवन साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक रहस्य-मय और गहरा होता है। यही कारण है कि उनसे प्रश्न पूछते-पूछते तबियत नहीं भरती। ऐसे कलाकारों से बात करते हुए व्यक्ति अपने को ऊँचा उठा हुआ पाता है। 'अज्ञेय' जी के साथ बात करते हुए मेरी स्थिति वैसी ही थी। इसलिए प्रश्न करता ही जाता था। हमारी बैठक को २–२॥ घण्टे हो चुके थे। खाने का समय हो गया था। बात-चीत बीच में ही बन्द कर देनी पड़ी।

रसोईघर में हम चार लोग थे—श्री अज्ञेय जी, स्व० प्रेम-चन्द जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री श्रीपतराय, श्री गजानन माधव मुक्ति-बोध और मैं। सन् '४१ के बाद अज्ञेय जी से यह पहली मुलाकात थी। मिलने से पहले लोगों ने उनके बारे में मुझसे कहा था—"अज्ञेय बहुत बड़ा आदमी हो गया है। तीन सौ-साढ़े तीन सौ रुपए के बंगले में रहता है। 'ऐरिस्टोक्रेसी' की हद है। अब वह पहला अज्ञेय नहीं है। फौज में जाकर बदल गया है।" आदि-आदि। अपनी असमर्थता कहूँ या क्या, मैंने उन बातों पर विश्वास-सा कर लिया था ; परन्तु 'अज्ञेय' जी के साथ घण्टों बात-चीत करते समय और फिर रसोईघर में बैठकर इकट्ठे भोजन करते समय मैंने अनुभव किया कि ये सब बातें निराधार हैं, भ्रम है। मैं उनमें वही भोलापन, वही आत्मीयता, वही विशालता, वही सहृदयता पा रहा था, जो आगरा में कभी यमुना के किनारे बीहड़ में सैर के लिए जाते समय पाई थी। उनमें रत्ती-भर भी परिवर्तन न हुआ था। हाँ, गम्भीरता अवश्य कुछ बढ़ी हुई जान पड़ती थी। यह भी देखना था कि उनकी वह मधुर मुस्कान विषाद से पूर्ण हो गई है, पर वह दृढ़ता के कारण विषाद को

व्यक्त नहीं होने देते। चूँकि उनको पहले से थोड़ा-बहुत जानता हूँ, इसलिए यह अनुभव करता हूँ। साधारण व्यक्ति सहसा आज के 'अज्ञेय' के मन के विषाद को नहीं समझ सकता।

ये पंक्तियाँ मैंने सोद्देश्य लिखी हैं। मैं चाहता हूँ कि किसी कलाकार के सम्बन्ध में फैले इस प्रकार के भ्रम पर विश्वास न किया जाय।

भोजन हो चुका। मुक्तिबोध जी जाने की जल्दी में थे। अज्ञेय जी ने उन्हें 'इत्यलम्' की एक प्रति भेंट करके विदा कर दिया। उनके जाने के बाद मैं फिर अपने काम में जुट गया। मैंने अज्ञेय जी से पूछा—"क्या साहित्य-साधना से, कभी आपका जी भी ऊबा है? यदि हाँ, तो उसके क्या कारण रहे हैं?"

वे बोले—"यों तो कभी-कभी अपने-आपसे भी मन ऊबता है, लेकिन वैसे कोई ऐसी बातें नहीं है, जो मन को ऊबाएं। लारेंस ने कहा है - 'काश कि मैं झरने के पानी में झूमती हुई पत्ती होता; क्योंकि मैं अपने-आपसे ऊब गया हूँ।' मेरी 'करमकल्ला' वाली कविता भी तो ऐसी ही मनःस्थिति की सूचक है।"

यहाँ मैंने प्रश्न किया—"क्या आपकी दृष्टि से साहित्योपजीवी होकर जिया जा सकता है?"

उनका कहना था—"यों तो जिया ही जा सकता है, पर यहाँ बड़ी मुश्किल से। मेरी राय जानना चाहते हैं तो यथासम्भव साहित्य को उपजीव्य न बनाना चाहिए। साहित्यकार अगर अपनी रोटी-साहित्य के अलावा किसी और काम से—साहित्य से सम्बन्ध न रखने वाले काम से—कमावे तो अच्छा है। उसी में उसकी मुक्ति है। फिर भले ही वह जूता गाँठने का काम क्यों न हो! साहित्य को उपजीव्य बनामा अपने को बेचना है। हर कोई अपना एक अंश बेचता है, लेकिन वह अंश क्यों बेचा जाय, जिसका दाता होने का हम दावा करते हैं या करने के अधिकारी

बने रहना चाहते हैं? साहित्य से मिलता-जुलता काम—यथा पत्र-सम्पादन आदि करने में भी यह खतरा रहता है कि हम भूल जाते हैं कि हमें क्या नहीं बेचना है, या कि अपने को धोखे में डाल सकते हैं। जूता गाँठने में उस भूल की कोई गुञ्जाइश नहीं—वह स्पष्टतया बेचा हुआ श्रम है। हाँ, जो उसी काम का कलाकार हो उसे फिर और कुछ बेचना चाहिए तात्पर्य यह है कि साधना को साधना रखना चाहिए और सब कला-सृजन साधना है। उधर रोटी भी अनिवार्य है। उसके लिए साधना से अलग अपना एक श्रम-विनिमय करना चाहिए। यों पत्रकार होकर भी अपने दो अलग कर्मों को अलग-अलग निबाह लेना असंभव नहीं है, पर बहुत कठिन अवश्य है और उसकी सफलता के उदाहरण भी देखने में आते हैं।"

"आप कवि भी हैं और कहानी-लेखक भी। लेकिन यह बताइये कि पहले आप कवि हैं या कहानी-लेखक?"

'अज्ञेय' जी इस प्रश्न पर कुछ मुस्कराए और बोले—"मैं तो 'मैं' पहले हूँ, लेकिन इधर देखता हूँ कि जो-कुछ और जैसा-कुछ कहना चाहता हूँ, उसके लिए उपन्यास और कहानी ठीक माध्यम हैं। काफी पहले मानता था कि कवि हूँ, पर अब नहीं मानता। प्रतिभा यदि है तो किसी भी माध्यम से व्यक्त हो सकती है, लेकिन फिर भी जब एक कला का कलाकार है तो वह किसी दूसरी कला में एक विशेष सीमा तक ही सफल हो सकता है। यों किसी भी कला के लिए अभिव्यक्ति और समझने की शक्ति होनी ही चाहिए। इतना अवश्य है कि कहानी के दोष ज्यादा स्पष्ट दीख जाते हैं, इसलिए काम-चलाऊ कवि होने से काम-चलाऊ कहानीकार होना मुश्किल है।"

यहाँ मैंने पूछा—"आपकी राय में हिन्दी के कौन कहानी-लेखक अच्छे हैं?"

"अच्छे कथाकार में व्यापक संवेदना, सामाजिकता या कि समाजगत मानव के साथ सहानुभूति, निर्ममत्व, और टैकनिक पर अधिकार—ये चार गुण होने अनिवार्य हैं। हिन्दी में सबसे अच्छा और महत्त्वपूर्ण कथाकार मैं जैनेन्द्र को मानता हूँ और हिन्दुस्तान में रवीन्द्र को। जिनकी कृतियों से मैं परिचित हूँ, उनमें से यशपाल और 'अश्क' भी मुझे अच्छे लगते हैं। उपन्यासकारों में महान् कहलाने वाला कोई नहीं है। यों अपेक्षया तो प्रेमचन्द जी का स्थान है ही। 'गोदान' और 'त्याग-पत्र' को मैं उपन्यास की सफलता मानता हूँ।"

"कुछ लोग आपको प्रयोगवादी कवि कहते हैं और आपको प्रयोगवादी स्कूल का प्रवर्त्तक मानते हैं। आपका इस सम्बन्ध में क्या विचार है?"

"प्रयोग के साथ 'वाद' न लगाइए। यदि किसी का कोई अधिकार छिन जाय और वह विरोध करे तो वह विरोध आग्रह का रूप ले लेता है, पर वह 'वाद' नहीं है। प्रयोग करना मैं कलाकार का जन्म सिद्ध अधिकार मानता हूँ। सब प्रयोग सफल नहीं होते, यह प्रयोगशीलता का दोष नहीं है और न इसके आधार पर यही कहा जा सकता है कि प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रयोग को लेकर मेरा वाद है तो इतना ही कि कोई भी कला अपनी अभिव्यंजना के विकास और उन्नति के लिए प्रयोग माँगती है और प्रयोग के बिना प्रगति नहीं हो सकती। हिन्दी और उर्दू के कई नए कवियों ने नए प्रयोगों से काव्य-साहित्य को नई अभिव्यंजनाएं दी हैं। इनमें से कुछ प्रगतिशील-लेखक-संघ के सदस्य हैं, कुछ नहीं। अभिव्यक्ति के लिए नए साधनों का अन्वेषण या आविष्कार जीवन के लिए नए साधनों का अन्वेषण या आविष्कार है। वह बृहत्तर या सम्पन्नतर जीवन की खोज है। यदि कोई कलाकार कहे कि मैंने जीवन-भर कला के क्षेत्र में

कोई प्रयोग नहीं किया तो मैं उसका अर्थ यही समझूंगा कि उसने जीवन को उन्नत बनाने की कोई चेष्टा नहीं की।"

मैं देख रहा था कि इस प्रश्न का उत्तर देते समय 'अज्ञेय' जी काफी गम्भीर हो गए हैं। इसलिए मैंने एक प्रश्न उनसे 'शेखर' के विषय में पूछा, ताकि गम्भीरता कम हो जाय। यह प्रश्न था—"क्या 'शेखर : एक जीवनी' का नायक शेखर स्वयं लेखक 'अज्ञेय' ही है ?"

"इसका उत्तर मैं 'शेखर' को भूमिका में दे चुका हूँ। लेकिन यह बात वहीं तक कि कोई भी रचना उसके रचयिता के विकास के इतिहास का प्रतिबिम्ब होती है, उससे अधिक नहीं। अगर मैं शेखर हूँ तो क्या शेखर का पिता मदनसिंह, मुहसिन, मणिका, सदाशिव, विद्यावती, शशि और थुक्कू मास्टर भी मैं नहीं हूँ। एक बात यह भी है कि जिस काल के जीवन-प्रकार की आलोचना करना मैंने चाहा है वह मेरा अपना काल है और जिस प्रकार के या जिस श्रेणी के लोगों की आलोचना मैंने की है, वे मेरे ही वर्ग के या मेरे ही आस-पास के लोगों-जैसे लोग रहे हैं। आज के अपने ज्ञान का आरोप मैंने बीते काल पर न करने की कोशिश की है। ऐसा मैंने ऐतिहासिक सत्य की रक्षार्थ किया है। इससे भ्रांति होनी तो नहीं चाहिए, लेकिन मैं जानता हूँ कि कुछ लोगों को हुई है।"

"हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा ?"

"भविष्य उज्ज्वल नहीं है, यह कहना तो जीवित रहने की प्रेरणा से इन्कार करना है। लेकिन ऐसी कोई अनायास उज्ज्वलता भी मुझे नहीं दीखती, जिसके पीछे घोर संघर्ष और मनोयोगपूर्ण परिश्रम न हो। साहित्य सम्पूर्ण सामाजिक अस्तित्व की अभिव्यक्ति है। हमारा आज का जीवन न सम्पूर्ण है, न सामाजिक; न सच्चे अर्थों में जीवन है; तब इसकी अभिव्यक्ति सम्पूर्ण कैसे

होगी ? समाज के अन्दर समाज है। समाज और समाजों का संघर्ष है। फिर व्यक्ति और व्यक्ति का, व्यक्ति और समाजों का तथा समाज का संघर्ष और अंतःसंघर्ष है। ये सब जहाँ कर्म-प्रेरक हैं, वहाँ सम्पूर्ण सामूहिक जीवन के उपयोग में बाधक भी है। साहित्यकारों को यह संघर्ष भी करना है और लिखना भी है। लिखने में उस संघर्ष को अभिव्यक्त भी करना है और समाहित भी। जितना बड़ा काम है, उतने समर्थ कर्त्ता अपने समकालीनों में मुझे नहीं दीखते। लेकिन उनमें जहाँ कुछ को परास्त होते देखता हूँ, वहाँ यह भी देखता हूँ कि कुछ लड़ रहे हैं और साथ-साथ ही यह भी उद्योग कर रहे हैं कि संघर्ष का उनके लिए निजी परिणाम चाहे कुछ भी हो, क्षमता रहते-रहते वे कुछ औरों को संघर्ष जारी रखने के लिए प्रस्तुत कर देंगे।"

हमारी बातचीत को ५-६ घण्टे हो गए थे। प्रश्न भी मैं इतने अधिक पूछ चुका था कि अब कुछ पूछने की इच्छा न थी। कुछ और वार्तालाप चलता भी, लेकिन 'हंस' के संपादक श्री अमृतराय सपरिवार आ गए, इसलिए हमें स्वभावतः अपना कार्य समाप्त कर देना पड़ा।

१२

डॉक्टर रामविलास शर्मा

इण्टरव्यू लेने के लिए जब मैं हिन्दी के प्रगतिवादी आलोचकों के शिरोमणि डॉक्टर रामविलास शर्मा के यहाँ गया तब वे एक परिश्रमी किसान की भाँति बनियान पहने और तहमद बाँधे मूँज की खाट पर बैठे थे और आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के निबन्धों के संग्रह का अध्ययन कर रहे थे। जैसे ही मैं पहुँचा उन्होंने द्विवेदी जी द्वारा पं० बालकृष्ण भट्ट की मृत्यु पर लिखी शोक-सम्वेदना, जो उस संग्रह में थी, मुझे पढ़कर सुनाई और कहा —"द्विवेदी-युग के साहित्यकारों में सहृदयता और प्रेम कूट-कूट कर भरा था। आज के बड़े-बड़े अभिनन्दन-ग्रन्थ और और स्मृति-ग्रन्थ इस एक पृष्ठ के उद्गारों के समक्ष हेय हैं। सचमुच वे महान् निष्ठावान साहित्यकार थे। साथ ही उन्होंने द्विवेदी-युग के सम्बन्ध में कितना काम करना अभी शेष है, इस विषय में भी बातें की। उस समय एक ओर तो मैं डॉक्टर रामविलास शर्मा की सादगी और साहित्य-निष्ठा तथा प्राचीन साहित्यकारों के प्रति उनकी श्रद्धा के विषय में सोच रहा था और दूसरी ओर द्विवेदी जी की महानता पर आश्चर्य कर रहा था। डॉक्टर रामविलास शर्मा अंग्रेजी-साहित्य के प्रकाण्ड पंडित हैं, उन्हें रूसी, फ्रेंच आदि विदेशी तथा उर्दू, बंगला, मराठी आदि

देशी भाषाओं का भी अच्छा ज्ञान है, वे मार्क्सवादी विचार-धारा में गहरे डूबे हुए हैं और उसके अच्छे व्याख्याता हैं। ये बातें उनके सम्बन्ध में अक्सर कही जाती रही हैं, परन्तु मैं यह देख कर आश्चर्य में पड़ गया कि अब भी साहित्य के निर्माताओं में उनकी श्रद्धा सबसे अधिक है और वे बड़ी गहराई से उन तपस्वी साहित्यकारों की कृतियों का अध्ययन करते हैं, जिन्होंने हिन्दी को अपने रक्त-दान से ऊँचा उठाया और उसे राष्ट्र की सर्वश्रेष्ठ निधि होने का गौरव प्रदान किया। मैं यही सब बातें सोच रहा था कि उन्होंने पूछा—"कहिए क्या हाल-चाल हैं? क्या लिखा-पढ़ी हो रही है?"

मैंने संक्षेप में उनको अपने हाल-चाल बताकर कहा कि आज तो मैं आपका इण्टरव्यू लेने आया हूँ। इस पर उन्होंने कहा "मेरा इण्टरव्यू क्या होगा? अभी तो मैंने कुछ लिखा ही नहीं है।"

जब मैंने उनसे बहुत आग्रह किया तो वे राजी हो गए और मुझसे प्रश्न करने के लिए कहा। मैंने उनसे पूछा—"आपका बाल्य-काल किन परिस्थितियों में बीता और उन्होंने आपके साहित्यकार के निमाण में कहाँ तक सहायता पहुँचाई?"

डॉक्टर साहब ने कहा—"मेरे बचपन के दिन अवध के एक गाँव में बीते। हमारे परिवार में और एक तरह से सारे गाँव में काव्य-साहित्य की बड़ी चर्चा रहती थी। मेरे पितामह को बहुत-से छन्द याद थे और खास तौर से नीति के दोहे, कुण्डलियाँ वगैरह, जिन्हें वे अपनी बात-चीत में बराबर इस्तैमाल करते थे। अक्षर-ज्ञान करने से पहले ही मैंने ये बहुत-से छन्द याद कर लिए थे शाम के वक्त मंदिरों और चौपालों पर अक्सर लोग कवित्त कहने बैठ जाया करते थे। इस तरह की जमातों से मुझे बहुत आकर्षण था। जिस हद तक मेरे भीतर कवित्व के संस्कार हैं उस हद तक

वे इस बाल्य-कालीन जीवन की देन हैं।

मेरा गाँव किसी बहुत बड़े जमींदार के हाथ में नहीं था। कई छोटे-मोटे जमींदार मिलकर उसकी देख-भाल करते थे, हालाँकि इन लोगों की भी जेबें खाली थीं और कर्ज के लिए ये हमेशा दूसरों के सामने हाथ फैलाते थे। एकाध बार मैंने इन्हें चमारों को बुरी तरह पीटते हुए देखा। चोरी, बलात्कार, मुकदमेबाजी वगैरह और बहुत-से ऐसे जुर्म थे, जिनसे इनमें से शायद ही कोई बरी रहा हो। बचपन में यह सब देखकर मेरे हृदय में कोई विद्रोह-भावना उठी हो, ऐसा मुझे याद नहीं। लेकिन जब मैं गाँव शब्द सुनता हूँ तो मुझे वे दृश्य याद आ जाते हैं। एक तरफ गाँव शब्द का अर्थ घनी अमराइयाँ, सुन्दर ताल, शरद् ऋतु का डूबता हुआ सुनहला सूरज और ईख के खेत हैं तो दूसरी तरफ गाँव का मतलब कच्ची दीवारें, गन्दे और फटे कपड़े पहने हुए गरीब किसान, जमींदारों से पीड़ित अछूत, बेगारी, अन्ध-विश्वास वगैरह हैं। गाँव का यह दोहरा मतलब मैं बहुत धीरे-धीरे समझा। लेकिन उसके समझने में और एक विशेष सामाजिक दृष्टिकोण के बनने में मेरे बचपन के ग्रामीण जीवन का काफी हाथ है।

कुछ दिन अवध के गाँव में रहने के बाद मुझे झाँसी आना पड़ा। अवधी मेरी मातृभाषा थी और बुन्देलखण्डी लड़कपन के साथियों के साथ सीखी। वयस्क होने तक गाँव से बराबर मेरा सम्बन्ध रहा। इसलिए अवधी और बुन्देलखण्डी इन दोनों भाषाओं से बराबर सम्पर्क कायम रहा। आगे चलकर भाषा-विज्ञान का अध्ययन करने में मुझे बचपन के इस उप-भाषाओं के परिचय से बड़ी मदद मिली।

झाँसी छोड़ने के बाद मैं लखनऊ-विश्वविद्यालय में पढ़ने लगा। होस्टल में न रह सकने की वजह से मैं डेढ़ रुपये महीने

किराये की कोठरी में एक अहाते के अन्दर रहता था। वहाँ पर रेलवे-वर्कशाप में काम करने वाले बहुत-से मजदूर भी रहते थे। इनका जीवन, हम मजदूरों के बारे में जो-कुछ किताबों में पढ़ते हैं, उससे बिलकुल भिन्न था। कभी-कभी लोको के मैदान पर इनकी मीटिंग होती थी और मैं भी वहाँ पर भाषण सुनने चला जाता था। इन दिनों लखनऊ के अनेक वाम-पक्षी कार्यकर्ताओं से मेरा परिचय हुआ। मजदूरों में रहने का फायदा उठाकर मैं कुछ और ज्यादा ध्यान से उनके जीवन का अध्ययन करने लगा। उन दिनों गोलमेज-कान्फ्रेंस के सिलसिले में गांधीजी लन्दन गए थे। वहाँ के एक वाम-पक्षी पत्र में मैंने इसके खिलाफ कई लेख लिखे थे। इस प्रकार मेरे साहित्यिक जीवन की शुरूआत हुई। एक प्रकार से पत्रकार-जीवन से ही मेरे साहित्यिक जीवन की शुरूआत है। शायद इसी संस्कार की वजह से मैं पत्र-साहित्य और शुद्ध साहित्य में कोई अन्तर नहीं देखता।

झाँसी की सरस्वती पाठशाला में कई शिक्षकों और विद्यार्थियों के सम्पर्क से बहुत-सी हिन्दी-कविता पढ़ने और सुनने को मिलीं। मेरे बड़े भाई को काव्य-साहित्य से बड़ा प्रेम है। उनके साथ अक्सर कविता के बारे में बातचीत करने का मौका मिलता था। तब मैं यही समझता था कि मैं मुख्य रूप से कविता लिखूँगा और सब काम उसके बाद, लेकिन यह लड़कपन की बात है और यहाँ तक आपके प्रश्न का उत्तर समाप्त हो जाता है।"

"लेकिन वास्तविक साहित्य-सृजन कब से आरम्भ हुआ और उसके लिए प्रेरणा कहाँ से मिली।"—मैंने पूछा।

वे बोले—"यूनीवर्सिटी की पढ़ाई खत्म करने के बाद मुझे निरालाजी के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे मुझे रवीन्द्रनाथ ठाकुर और दूसरे कवियों की कविताएं बड़े स्नेह से सुनाया करते थे। उन्हें न जाने कितनी कविताएं याद थीं।

कविताएं सुनाते-सुनाते उन पर बहस भी हो जाती थी। हालाँकि इन दिनों निराला जी के प्रभाव से मैं गीत भी लिखता था और वे बहुत प्रोत्साहन भी देते थे, फिर भी साहित्य का आनन्द उनसे बहस करने में ज्यादा आता था कविता लिखने में कम। इन दिनों मैं अपना थीसिस-सम्बन्धी कार्य कर रहा था। तभी निराला जी पर कई आक्षेपपूर्ण लेख प्रकाशित हुए। वाद-विवाद में मेरी रुचि आरम्भ से ही थी। मैंने पहला आलोचनात्मक लेख निराला जी के समर्थन में और उनके विरोधियों का खण्डन करते हुए लिखा। उसके बाद छायावादी कविता के समर्थन में और कई लेख लिखे। दूसरा महायुद्ध शुरू होने के साथ-साथ मैं अपना रिसर्च का कार्य समाप्त कर चुका था। और थोड़ा-बहुत मार्क्सवाद का अध्ययन करने लगा था। इसके फलस्वरूप मैं प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन के नजदीक आया और सन् '४० से बहुत कुछ नियमित रूप से आलोचनात्मक लेख लिखने लगा। सन्' ४३ से, ४८ तक मैंने अधिकतर मार्क्सवादी पुस्तकों का अनुवाद किया और लेख कम लिखे। सन् '४८ से अब तक प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन में और निकट से भाग लेते हुए मैं आलोचनात्मक निबन्ध लिखता रहा हूँ। इस बीच साहित्य की आलोचना से अधिक मैं भाषा-विज्ञान का अध्ययन करता रहा हूँ, लेकिन उस पर विस्तार से लिखने का समय नहीं मिला। यह संभव है कि अगले वर्षों में मैं आलोचना और कम लिखूँ और भाषा-विज्ञान के सम्बन्ध में और अधिक लिखूँ।"

"भाषा-विज्ञान के अध्ययन से आपने क्या दृष्टिकोण निश्चित किया है, और आप उसके अनुकूल कार्य करने लिए किन बातों की आवश्यकता समझते हैं?"

"मैं यह समझता हूँ कि हमारे देश में भाषा-विज्ञान अपेक्षाकृत एक नया विज्ञान है। दोनों महायुद्धों के बीच में जो भाषा-

विज्ञान की पुस्तकें लिखी गई हैं उन पर फ्रांस और इङ्गलैंड के भाषा-वैज्ञानिकों का पर्याप्त प्रभाव है। यूरोप के ये ख्याति-प्राप्त भाषा-वैज्ञानिक अपनी आदर्शवादी विचार-धारा और नस्ल के गलत सिद्धान्तों की वजह से भारतीय भाषाओं के सम्बन्ध में अनेक गलत धारणाओं का प्रचार कर गए हैं। इन सबका प्रभाव हमारे सामाजिक आन्दोलन पर भी पड़ता है। भारत एक बहुजातीय और बहु-भाषा-भाषी देश है। भाषा की समस्या फुरसत में अध्ययन करने की ही समस्या नहीं है। यह एक तात्कालिक सामाजिक समस्या है। हिन्दुस्तान की पिछड़ी हुई जातियों का विकास इस समस्या से सम्बन्धित है। मैं चाहता हूँ कि भारतीय भाषा-विज्ञान साम्राज्यवादी भाषा वैज्ञानिकों के प्रभाव से मुक्त हो। दूसरे यह कि अब हम अपने देश के प्राचीन भाषा-विज्ञान के समस्त तत्त्वों को लेकर आगे बढ़ें। तीसरे यह कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर भारतीय भाषाओं के विकास का विवेचन करें। भाषाओं के इतिहास से हमारी जनता के सांस्कृतिक इतिहास पर भी काफी प्रकाश पड़ेगा। प्रगतिशील लेखक-संघ में अनेक भाषाओं के लेखक सम्मिलित हैं। पिछले ३-४ साल में इनके साथ काम करने से मुझे इसके अध्ययन में बड़ी प्रेरणा मिली है।"

"वे देशी- विदेशी कलाकार कौन-से हैं, जिन्हें आप अधिक पसन्द करते हैं और जिनका आपके जीवन में अपरिहार्य स्थान है?" —मैंने प्रश्न किया।

उनका उत्तर था—"मेरे ऊपर कवियों का प्रभाव अधिक है। प्राचीन हिन्दी में 'तुलसीदास' का, खड़ी बोली में 'निराला' का और ग्रामीण बोली में 'पढीस' का। जब मैं अवधी को छोड़कर और कोई भाषा नहीं जानता था तब संसार के महान् लेखकों में यह महाकवि ही ऐसे थे, जिन्होंने उस भाषा में एक तिरस्कृत

बालक के हृदय को स्पन्दित किया, जिस भाषा के बोलने वालों को सभ्य समाज अपने से निम्न समझकर अपमानित करता था। यह तो एक व्यक्तिगत कारण है। मैं उसे भूलकर पूर्ण तटस्थता से जब 'रामचरित मानस' पढ़ता हूँ तब उसे अपने हृदय में सबसे अधिक निकट पाता हूँ। यही बात और लाखों हिन्दुस्तानियों के साथ हुई है, इसलिए मैं कोई अनोखी बात नहीं कह रहा हूँ। तुलसीदास जी की यशः काया ही मेरे साथ रही है, लेकिन निराला जी को तो उनकी आधि-व्याधि जर्जर काया के साथ साक्षात् शिव के समान (आशुतोष और क्रोध की तीसरी आँख वाले शिव भी) अपने निकट पाया है। मेरी कविताओं पर, जिनमें से कुछ 'तार-सप्तक' में संग्रहीत हैं, निरालाजी का प्रभाव स्पष्ट है और जिस कविता के लिखने में मुझे सबसे अधिक मजा आया है। और जिस पर मेरे कई कवि मित्रों को (जैसे शिवमंगलसिंह 'सुमन') ईर्ष्या होती है, वह निरालाजी पर ही है। पढीस जी तो ऐसे लेखक हैं जो अपनी कृतियों के साथ मेरे जीवन में घुल-मिल गए हैं। मैं उन्हें अपने समय का श्रेष्ठ गद्य-लेखक और अवधी का ऐसा कवि मानता हूँ जो युग के श्रेष्ठ कवियों की पंक्ति में आदर का स्थान पाने योग्य होते हैं।

मेरी आलोचना-शैली पर इनका क्या प्रभाव पड़ा है। यह मैं नहीं कह सकता। मुझे चाहिए था कि मैं और आलोचकों की कृतियाँ पढ़ता, लेकिन वह मैं अनेक कारणों से नहीं कर सका। व्यंग्यपूर्ण और तीखी आलोचना लिखने वाले साहित्यकार मुझे प्रिय हैं। इस प्रकार की शैली साहित्य से अधिक राजनीति और अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र में मार्क्स और लेनिन ने परिष्कृत की है। शैली के लिहाज से मार्क्स की पुस्तक 'पावर्टी एण्ड फिलासफी' मुझे अद्भुत रचना मालूम पड़ती है। इसकी तर्क-योजना और व्यंग्य बहुत ही सरल और शिक्षा प्रद हैं। उसी कोटि में लेनिन

की प्रसिद्ध पुस्तिका 'प्रोलितेरियन रेवोल्यूशन एण्ड रेनेगेड काटस्की' व्यंग्यपूर्ण आलोचना का उत्कृष्ट नमूना है। आलोचना लिखते समय अनिच्छित रूप से भी यह पुस्तकें मेरे सामने आदर्श रूप में रहती हैं।

उपन्यास-लेखकों में गोर्की और प्रेमचन्द मुझे अधिक प्रिय हैं। और मैं समझता हूँ कि हर आलोचक को शुष्क तर्क-योजना से बचने के लिए उपन्यास-कला से बहुत-कुछ सीखना चाहिए। गोर्की की सजीव उपमाएं और प्रेमचन्द की सादी, चुभती हुई मुहावरेदार भाषा हर प्रगतिशील आलोचक के लिए मनन करने को वस्तु है। मैं बराबर कोशिश करता आ रहा हूँ कि इन लेखकों से गद्य-रचना करना सीखूँ।"

"सृजन के पूर्व, सृजन के समय और सृजन के पश्चात् आपकी मनःस्थिति क्या होती है?"

"लिखने के पहले सोचना आवश्यक होता है। जिस विषय पर मुझे लिखना होता है उस पर रात के वक्त मैं काफी देर तक सोचता रहता हूँ। यह काम विषय और समस्या के अनुसार कभी दो-चार दिन में होता है, कभी दो-चार हफ्तों में, और कभी दो-चार महीनों में। रात्रि की शान्ति में जब सब लोग सो जाते हैं तब छत पर टहलते हुए तरह-तरह की समस्याओं पर विचार करने में भी मुझे काफी आनन्द आता है। सवेरे उठकर घूमकर लौटने तथा अन्य क्रियाएं समाप्त करने पर जब लिखना होता है, लिखने बैठ जाता हूँ। लिखते समय मुझे सबसे अधिक भद्र मित्रों का लाभ रहता है। इसलिए कि जब वे आ जाते हैं तो कहने पर भी जल्दी उठने का नाम नहीं लेते। इसके लिए मैंने 'अतिथि' शीर्षक एक लेख लिखा था और उसे 'रानी' में छपाया था और असमय आने वाले मित्रों को उसे दिखा देता था। नतीजा यह हुआ कि कुछ मित्र उस लेख को देखने के

बहाने आने लगे तब मैंने उसे बन्द कर दिया। मित्र आयंगे कि न आयंगे, इस मामले में मैं पूरा भाग्यवादी हूँ। अगर उनकी विशेष विघ्न-बाधा के बिना कोई लेख समाप्त हो जाय तो मैं समझता हूँ कि मेरे पाठक उसे जरूर पसन्द करेंगे।

लिखने के विषय में एक बार सुभद्राकुमारी चौहान से बात हो रही थी। उन्होंने बताया कि चिकना कागज और सुन्दर फाउण्टेन पेन कविता लिखने के लिए जरूरी है और इनके बिना उन्हें लिखने में विशेष उत्साह नहीं होता। यह सुन कर कि मेरे पास चिकने कागज का अभाव है, कविता लिखने के लिए उन्होंने मुझे सुन्दर सजिल्द कापी भेंट की। और हुआ यह कि मैं एक भी कविता न लिख सका। फाउण्टेन पेन से लिखने में मुझे दिक्कत होती है। कापी साइज के कागज पर लिखने से भी जी ऊब उठता है। कलम दावात और फुलस्केप साइज का कागज लिखने में मदद देते हैं। शायद इसका कारण यह है कि कापी और फाउण्टेन पेन देखकर मुझे हमेशा क्लास-रूम की याद आ जाती है।

आम तौर पर विवादास्पद लेख लिखने पर मैं ज्यादा-से-ज्यादा मित्रों को उन्हें पढ़कर सुना देता हूँ और उनकी राय सुन-कर अपनी समझ के मुताबिक जहाँ-तहाँ संशोधन करता हूँ। मैंने शायद ही कोई ऐसी पुस्तक या लेख लिखा हो, जिसे छपने से पूर्व एक से अधिक मित्रों ने न सुना हो। इस आदत की वजह से एक बार एक मित्र के आग्रह से निरालाजी पर मुझे अपनी पूरी पुस्तक रद्द करनी पड़ी और उसे दोबारा लिखना पड़ा, जैसी कि वह छपी है। सुनने वालों से परामर्श करके मुझे पर्याप्त लाभ हुआ है। मैं अक्सर यह भी करता हूँ कि किसी विवादास्पद विषय पर अपनी राय लिखने से पहले ही बातचीत में जहाँ-तहाँ अपने मित्रों के सामने रख देता हूँ। कई जगह बहस करने के बाद जब मैं

निश्चित परिणाम पर पहुँचता हूँ तो उसे लेखबद्ध करने में आसानी होती है। लेख छपने के बाद मैं उसे एक बार अवश्य पढ़ता हूँ, यह देखने के लिए कि जो बात मैं कहना चाहता था उसे किस हद तक कह पाता हूँ! कहना न होगा कि मैं लेख या पुस्तक के पाठकों की राय जानने के लिए हमेशा उत्सुक रहता हूँ। यह तो सामान्य लिखने के ढंग की बात है।"

व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में आवश्यक बातें मैं पूछ चुका था, इसलिए अब मैंने उनकी आलोचना-शैली के सम्बन्ध में उनसे पूछा—"आपकी आलोचना-शैली को लोग राजनीति से बोझिल बताते हैं, इसके विषय में आपका मत क्या है?"

उन्होंने कहा—"शास्त्रीय आलोचना-शैली से मेरे लिखने की शैली—अगर उसमें कोई शैली है तो—काफी भिन्न है। 'शैली को विषय-वस्तु से अलग नहीं किया जा सकता। लेखक के जैसे विचार होते हैं बहुत-कुछ उन्हीं के अनुकूल उसकी आलोचना-शैली होती है। शास्त्रीय आलोचना समाज और साहित्य के प्रति अपना एक विशेष दृष्टिकोण रखती है। मेरा दृष्टिकोण उससे भिन्न है, इसलिए शैली में अंतर हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। आलोचना के लिए सरल और सुबोध शैली अपनाई जा सकती है और व्यंग्य और हास्य से उसे रोचक बनाया जा सकता है। आपके युग में आलोचना-शैली को व्यंग्य और हास्य से दूर रखना असंभव है। कारण यह है कि इस युग में पुराने मानदण्ड, पुराने सिद्धान्त, पुरानी समीक्षा-पद्धतियाँ, पुराने राजनीतिक विचार खत्म हो रहे हैं। कुछ लोग जीर्ण-शीर्ण सिद्धान्तों को अमर सिद्धान्त मानकर समाज के उच्च वर्गों की सेवा में लगे हुए हैं। जिस तरह भारतीय प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ देश की समस्याएं हल न कर सकने के कारण नित्य-प्रति अन्तर-विरोधों में फँसते हुए हास्यास्पद बन रही हैं। उसी प्रकार उनके साहित्यिक

सिद्धान्त भी हास्यास्पद बनते जा रहे हैं। व्यंग्य और हास्य प्रतिक्रियावादी विचारों तथा सिद्धान्तों का खण्डन करने और जनता को उनसे सचेत करने में मदद देते हैं। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से लेकर निराला तक व्यंग्यपूर्ण आलोचना की एक सजीव परम्परा रही है। मेरी समझ में सचेत और जागरूक लेखक को उसे अपनाना और विकसित करना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं कि मेरी आलोचना राजनीतिक अधिक होती है, साहित्यिक कम। ऐसे लोगों की आलोचनाओं के लिए मैं भी कह सकता हूँ कि वे साहित्यिक अधिक होती हैं, राजनीतिक कम। राजनीति साहित्य का आधार है। किसी भी देश की संस्कृति राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था के आधार के बिना टिक नहीं सकती। जो लोग संस्कृति को राजनीति से अछूता रखना चाहते हैं, वे वास्तव में एक निराधार संस्कृति की सृष्टि करना चाहते हैं। राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन के साथ संस्कृति में भी परिवर्तन होता है। इसलिए सामंती आर्थिक व्यवस्था को पोषित करने वाली संस्कृति को पूँजीवादी संस्कृति आदि कहते हैं। संस्कृति का यह गुण है कि वह अपने आधार को पुष्ट करे। हमारे समाज में कुछ विचार या सिद्धान्त ऐसे हैं जो जनता का हित करते हैं और दूसरे विचार या सिद्धान्त ऐसे हैं जो जनता के शत्रुओं का हित करते हैं इसलिए आलोचक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह साहित्य के विचारों और सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुए यह स्पष्ट करे कि उनसे जनता का हित होता है या जनता के शत्रुओं का। राजनीति और साहित्य का यह सम्बन्ध सामने रखने की वजह से मेरी आलोचना में राजनीति का पुट रहता है लेकिन अगर कोई कहे कि मैंने साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य का तिरस्कार किया है या उसकी व्याख्या नहीं की तो मेरे लिए यह

मानना मुश्किल है। प्रगतिशील लेखकों में कला के प्रति उदासीनता और लापरवाही की आलोचना जब-तब मैं कर चुका हूँ। अन्त में इतना ही कहूँगा कि इस पीड़ित और निर्धन देश में किसी भी आलोचक के लिए साम्राज्य-विरोधी, सामन्त-विरोधी राजनीतिक उद्देश्यों को आँखों से ओझल करना बहुत ही खतरनाक होगा।"

"क्या वर्तमान आलोचना और आलोचकों की स्थिति पर भी आप कुछ कह सकेंगे?"

"भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावादी-युग और प्रगतिवादी युग के साहित्य की मुख्य विचार-धाराओं के अनुसार आलोचना के मानदण्ड और उसकी पद्धतियाँ भी बदलती रही हैं। भारतेन्दु-युग की आलोचना समाज-हित की भावनाओं से परिपूर्ण और जिन्दादिली से भरी हुई होती थी। इस युग के आलोचकों पर अभी बहुत कम काम हुआ है। मेरी समझ में भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, और राधाचरण गोस्वामी ऐसे आलोचक थे, जिन्होंने इस युग की चेतना के अनुसार साहित्य और समाज के घनिष्ठ सम्बन्ध को अपनी आलोचना में समाविष्ट किया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी केवल भाषा-सुधारक ही नहीं थे। ब्रजभाषा के मुकाबले में खड़ी बोली की कविता को माध्यम बनाने में उन्होंने एक चतुर और सजग आलोचक का काम किया। उनकी शैली कभी-कभी बड़ी सरस और विनोदपूर्ण भी होती है। आचार्य शुक्ल की सबसे अच्छी कृति उनका इतिहास है और हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने वालों में आज तक एक भी उसके जोड़ की चीज नहीं दे सका। मैं समझता हूँ कि साहित्य के विकास और उसकी शिक्षा के प्रसार में उस इतिहास ने अद्वितीय काम किया है। शुक्ल जी ने छायावादी कविता आदि के बारे में जो बातें कही हैं उनसे बहुतों का मतभेद है, लेकिन इतिहास का महत्त्व सबसे अधिक रीति काल

और भक्ति-काल के विवेचन में है। छायावादी आलोचकों में निरालाजी के कई निबन्ध, जैसे 'पंतजी और पल्लव' 'कला के विरह में जोशी-बन्धु', 'मेरे गीत और कला' आदि हिन्दी-आलोचना को श्रेष्ठ देन हैं। 'निरालाजी' उन थोड़े-से आलोचकों में हैं, जिनके निबन्धों में उनके व्यक्तित्व की छाप दिखाई देती है। इसके अलावा उनकी व्यंजनापूर्ण शैली और तर्क-योजना कम आकर्षक नहीं होती। जिस आत्म-विश्वास के साथ वे लिखते हैं वह भी दर्शनीय होता है। 'निरालाजी' के विरोध में जितने आलोचकों ने लिखा है, उनकी तमाम रचनाएं निरालाजी के एक भी अच्छे निबन्ध की तुलना में ठहर नहीं सकतीं। उपन्यासकार प्रेमचन्द जी ने 'हंस' के अन्दर काफी आलोचनाएं लिखी थीं। साहित्य और राजनीति का कैसा सम्बन्ध है और आलोचना कितनी सरल और सुबोध शैली में लिखी जा सकती है, इसकी बहुत-सी मिसालें हमें प्रेमचन्द जी में मिल सकती हैं। अपनी पीढ़ी के आलोचकों के बारे में विस्तार से अलग कहूँगा। यहाँ कि इतना ही कहना काफी है प्रेमचन्दजी द्विवेदीजी और शुक्लजी आदि के मुकाबले में आज का आलोचक युग के दायित्व को निभाने में असमर्थ रहा है। यानी जिस हद तक इन पिछले आलोचकों ने अपने युग के उत्तरदायित्व को निबाहा था उस हद तक ये लोग इस नए युग के उत्तरदायित्व को नहीं निभा सके। फिर भी हिन्दी में काफी नए आलोचक आगे बढ़ रहे हैं और दिन-पर-दिन उनकी साहित्यिक तथा राजनीतिक सूझ-बूझ पैनी होती जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-आलोचना का भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है।"

जब युग के उत्तरदायित्व की बात उन्होंने चलाई तो मैंने उनसे पूछा कि क्या प्रगतिशील साहित्यकारों का पारस्परिक विवाद युग के उत्तरदायित्व के अनुकूल है? इस पर उन्होंने

कहा—"प्रगतिशील साहित्यकारों में जो विवाद चल रहा है, उसके बारे में भी मैं विस्तार से कहूँगा। विवाद कुछ इस तरह चला है कि उसमें मूल समस्याएं खो गई हैं। मैं समझता हूँ कि उन समस्याओं की तरफ यहाँ इशारा करना काफी होगा। पहली समस्या यह है कि प्रगतिशील साहित्य क्या है? मेरी धारणा यह है कि मजदूर वर्ग के नेतृत्व में रचा जाने वाला साम्राज्य-विरोधी साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य है। यहाँ पर ये प्रश्न उठ खड़े होते हैं? साम्राज्य-विरोधी साहित्य ही प्रगतिशील साहित्य क्यों है? क्या हम साम्राज्य-विरोधी या सामन्त-विरोधी, इस तरह की शब्दावली इस्तैमाल किये बिना प्रगतिशील साहित्य की कोई शुद्ध साहित्यिक व्याख्या नहीं कर सकते? मेरा उत्तर यह है कि प्रत्येक साहित्य एक निश्चित सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति करता है। इस उद्देश्य को चाहे जितने पर्त्तों में लपेटकर रखा जाय, उसका पता लगाना कठिन नहीं। जो लोग सामन्ती समाज या साम्राज्यवादी शक्तियों के समर्थन में साहित्य रचते हैं वे कभी यह घोषित नहीं करते कि उनका साहित्य सामन्त-प्रेमी या साम्राज्य-प्रेमी है। वे इस उद्देश्य को अनेक सुन्दर शब्दों में छिपाने की कोशिश करते हैं। प्रगतिवादी साहित्यकार सामन्तवाद या साम्राज्यवाद के विरोधी हैं। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि साहित्य की रचना निरुद्देश्य नहीं होती। इसी लिए मेरी धारणा यह है कि हमें अपना लक्ष्य स्पष्ट घोषित करना चाहिए और वह यह है कि भारत से साम्राज्यवादी प्रभुत्व पूरी तरह खत्म किया जाय और जिन सामन्ती अवशेषों से भारतीय जनता का अधिकांश अंग पीड़ित है उन्हें मिटाया जाय। दूसरे शब्दों में प्रत्येक प्रगतिशील साहित्यकार का प्रमुख उद्देश्य यह होना चाहिए कि इस कांग्रेसी प्रजातंत्र को बदलकर स्वाधीन जनवादी प्रजातंत्र बनाया जाय।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रगतिशील लेखकों के लिए इतना कहना काफी है कि वे जनता की सेवा करना चाहते हैं। इससे अधिक राजनीतिक उद्देश्य की घोषणा करना साहित्य में संकीर्णतावाद लाना होगा। मैं यह समझता हूँ कि जहाँ तक कला के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का सवाल है वहाँ पर प्रगतिशील लेखकों को सबसे पहले इसी एक सिद्धान्त पर एकता कायम करनी चाहिए कि उनकी कला का उद्देश्य जनता की सेवा करना है. लेकिन यह कला-सम्बन्धी उद्देश्य एक स्पष्ट राजनीतिक उद्देश्य की जगह नहीं ले सकता।

अब दूसरा सवाल यह है कि मजदूर-वर्ग के नेतृत्व का सवाल क्यों उठाया जाय ? किसानों का नेतृत्व क्यों न हो ? या किसी दूसरी पार्टी या वर्ग का नेतृत्व क्यों न हो ? कुछ मित्रों का यह भी विचार है कि चीन में कम्युनिस्ट-पार्टी बहुत कमजोर है इसलिए मजदूर-वर्ग के नेतृत्व की बात उठाना निरर्थक है। मेरा उत्तर यह है कि मजदूर वर्ग के नेतृत्व की बात हम इसलिए उठाते हैं कि यह एक ऐतिहासिक सत्य है। हिन्दुस्तान में प्रगतिशील लेखक-संघ का संगठन मजदूर वर्ग में काम करने वाले लेखकों ने किया है। यदि हिन्दुस्तान में मजदूर-वग या कम्युनिस्ट पार्टी न होते तो हिन्दुस्तान में प्रगतिशील लेखक संघ भी न होता। राजनीतिक संगठनों की तरह सांस्कृतिक संगठनों को मजदूर वर्ग ही प्रगति की ओर ले जा सकता है। पूँजीपतियों का वर्ग एक शोषक वर्ग है। वह स्वभाव से ढुल-मुल-यकीन, कमजोर और कभी-कभी मौके पर दगा करने वाला भी है। इसलिए वह जन-संगठनों का नेतृत्व करने के अयोग्य है। किसानों और मजदूरों में मजदूर वर्ग एक ऐसा वर्ग है, जो हमारे देश की नई उत्पादक शक्तियों का प्रतीक है। यह वर्ग साम्राज्यवाद, सामन्तवाद और पूँजीवाद तीनों से पीड़ित है। मजदूर वर्ग अपने जीवन की

परिस्थितियों के कारण वह सबसे अधिक संगठित है और सबसे अधिक क्रान्तिकारी है इसलिए मजदूर वर्ग की अग्रगामी भूमिका के बिना कोई भी सामाजिक या सांस्कृतिक मोर्चा विजयी नहीं हो सकता। यही कारण है, कि मैं मजदूर-वर्ग के नेतृत्व को आवश्यक समझता हूँ।

एक दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि साम्राज्य-विरोधी सामन्त-विरोधी साहित्य प्रगतिशील लेखक सघ की नींव पड़ने से पहले भी लिखा गया है। इसमें और प्रगतिशील शील साहित्य में यही अन्तर है, या होना चाहिए कि पिछला समाज-विरोधी साहित्य मजदूर-वर्ग के नेतृत्व के अभाव में रहस्यवाद, निराशावाद, अन्धराष्ट्रवाद आदि अनेक असंगतियों से पूर्ण है। प्रगतिशील साहित्य भाववादी विचार-धारा से प्रभावित होने के कारण इन असंगतियों से बचता है और उन्हें कम करता हुआ उन्हें समाप्त करने की ओर बढ़ता है। मजदूर-वर्ग के नेतृत्व के बिना पुराने साम्राज्य-विरोधी साहित्य और नए साम्राज्य-विरोधी साहित्य का अन्तर निरर्थक हो जाता है और प्रगतिशील नाम ही अनावश्यक प्रतीत होता है।

जहाँ तक कुछ विशेष लेखकों की आलोचना का सम्बन्ध है, मैं अपनी राय स्पष्ट कर चुका हूँ कि साहित्य में गांधीवाद और सम्प्रदायवाद का खण्डन करना आवश्यक है। यह मैं पंत और राहुल की रचनाओं के बारे में कर चुका हूँ। इसमें सन्देह नहीं कि मैंने जितना लिखा है, वह पर्याप्त नहीं है परन्तु अवकाश मिलने पर मैं इनके विषय में और विस्तार से लिखूँगा।"

मैंने उनसे अगला प्रश्न किया—"क्या साहित्योपजीवी होकर जिन्दा रहा जा सकता है।

उन्होंने उत्तर दिया—"जरूर। मगर साहित्य को बेचने वाले जीने दें तब न। ये साहित्य को खरीदने के साथ-साथ साहित्य-

कार को भी खरीद लेते हैं। इनका रोना रहता है कि हिन्दी-पुस्तकें बिकती नहीं। पूछो, तुमने ये कोठियाँ कहाँ से खड़ी कर लीं? बड़े-बड़े प्रकाशकों से बढ़कर साहित्य, संस्कृति और जनता का दुश्मन कोई नहीं है। पूँजीवाद का सबसे घातक प्रभाव यहीं दिखाई देता है। एक साहब कहते हैं कि लेखक तो मेरे दोस्त हैं, उनसे भाव-तोल क्या? जो माँगते हैं, दे देता हूँ। उसे वे खुशी से ले लेते हैं। इन लेखकों की पुस्तकों के तीन-तीन संस्करण हो गए, लेकिन एक रुपया पेज पर कापी-राइट खरीदकर प्रकाशक महोदय उऋण हो गए। दूसरे सज्जन कहते हैं कि मैं राजाओं से रुपया लाता हूँ—हिन्दी-लेखकों को देने के लिए। एक तीसरे सज्जन लेखकों पर दया करके साग-भाजी के भाव किसी प्रकाशक के यहाँ उनकी कृतियाँ बिकवा देते हैं और डींग हाँकते हैं कि हम-सा हिन्दी का हिमायती कोई दूसरा नहीं है। कुछ अन्य प्रकाशकों के दलाल लेखकों में ऐसा रौब जमाते हैं, जैसे कलियुग में व्यास का अवतार वहीं हों। केवल प्रकाशक के दलाल होने के नाते ये साहित्यिकों से लेकर उनके सम्मेलन तक में धाक जमाने से नहीं चूकते। हिन्दी के लेखक मिट्टी के मोल अपनी किताबें बेचते हैं और उसी से प्रकाशक सोना बनाते हैं। अमृतसर से बम्बई, बम्बई से कलकत्ता तक इस विशाल त्रिकोण में हिन्दी-साहित्य के लिए क्षेत्र है, परन्तु इन प्रकाशकों की कृपा से न तो हिन्दी-प्रचार होता है न पुस्तकों की बिक्री से लेखकों को उचित आय होती है, जिससे वे साधारण खाते-पीते आदमी की तरह साहित्य-सेवा से अपना जीवन बिता सकें। मेरी समझ में हिन्दी-लेखक की आवश्यकताएं बहुत कम होती हैं, उसके संस्कार पूँजीवादी न होकर ग्रामीण अधिक हैं। वह बिना भव्य पूँजीवादी वातावरण के भी साहित्य-रचना कर सकता है; लेकिन उसे इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए भी पैसा नहीं मिलता। पत्र-

पत्रिकाओं से उसे काफी आमदनी हो सकती है; लेकिन जब तक आपका नाम नहीं है तब तक तो सम्पादक भी आपका लेख छापकर ही आपको कृतार्थ करेंगे। थोड़ा नाम हुआ तब आपने अर्थ की बात की, और उन्होंने मित्रता में कभी कभी लिखने की सलाह दी। अधिक भाग्यशाली हुए तो महीने में पाँच-दस रुपये और और वह भी समय पर नहीं, आप ले मरे। मुझे यह देखकर दुःख होता है कि बाबू गुलाबराय-जैसे लेखक, जिनके समान व्यक्तिगत निबन्ध लिखने वाला दूसरा नहीं है और जो हमारे साहित्य की स्थायी सम्पत्ति हैं, उनके लिए उन्हें पाँच और दस रुपये देकर सम्पादक और प्रकाशक अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं और यह उन पत्रों का हाल है जो 'मदन-मंजरी' और 'वशीकरण मन्त्र' के विज्ञापन छापकर उनसे कहीं ज्यादा पैसा कमाते हैं। जितना कि वह पारिश्रमिक के रूप में बाबूजी को देते हैं। विज्ञापन के कालमों में युद्ध-विभाग की विज्ञप्तियाँ और सम्पादकीय कालमों में उसी का विरोध, यह है हमारी पत्रकार-कला का वास्तविक चित्र। इन्हीं कारणों से बेचारा साहित्यकार और पत्रकार साहित्य-सेवा के नाम पर दर-दर ठोकरें खाता है और हर टटपूँजिए बुकसेलर में भी यह हिम्मत होती है कि वह उसे अपने व्यवहार से समझा दे कि उस-जैसा जलील आदमी समाज में दूसरा नहीं है।"

अन्त में मैंने उनसे साहित्य के भविष्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया—"हमारे साहित्य का भविष्य क्या होगा ?"

उन्होंने कहा—"हमारे साहित्य का भविष्य उज्ज्वल है, इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता; लेकिन इस उज्ज्वल भविष्य तक हम तब तक नहीं पहुँच सकते जबतक कि हमारी जनता गुलामी और गरीबी के अधिकार में है। संस्कृति का मुख्य आधार सामाजिक शिक्षा है। आज हमारा अच्छे-से-अच्छा साहित्य मुट्ठी-भर

लोगों तक पहुँच पाता है। निरक्षर जनता साहित्य से न शिक्षा पा सकती है, न मनोरंजन कर सकती है। चार साल की स्वाधीनता में जनता की अशिक्षा दूर होना तो दरकिनार उसे जीवन-यापन की सुविधाएं भी मिलना कठिन हो रहा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम अपने देश का पिछड़ापन दूर करें। जिस अंग्रेजी पूँजी ने हमारे औद्योगिक विकास को दबा रखा है उसके प्रभुत्व को खत्म करें। इसके साथ ही देहात की कोटि-कोटि जनता दासता और अर्द्ध-दासता के बन्धनों से मुक्त होकर कलम और पोथी सँभाल सके। हिन्दुस्तान और हमारी हिन्दी भाषा-भाषी इलाके में साहित्य इतने वेग से प्रगति करेगा कि लोग चकित रह जायंगे। हमारी जनता में कौन-से हीरे-जवाहरात छिपे हैं, इसका हमें बहुत धुँधला-सा अन्दाज है। एक बार जब ज्ञान के प्रकाश में इनकी आँखें खुलेंगी तब इनमें से कितने उच्चकोटि के कथाकार, कवि, आलोचक, निबन्धकार आदि उत्पन्न होंगे, इसकी हम कल्पना नहीं कर सकते। इसीलिए आपके तमाम देश-प्रेमी साहित्यकारों का यह प्रमुख कर्तव्य हो जाता है कि वे देश-की जनता के उद्धार के लिए अपनी प्रतिभा और शक्ति का उपयोग करें। इससे उनकी रचनाओं के सहस्रों नए पाठक उत्पन्न होंगे और पाठकों से अधिक प्रेरणा देने वाला साहित्यकार के लिए कौन हो सकता है। इसलिए मैं समझता हूँ कि हमारे साहित्य का भविष्य हमारी जनता के भविष्य के साथ जुड़ा हुआ है। हमारी जनता अजेय है इसलिए प्रगतिशील साहित्य की गति भी अजेय है।"

मन, वचन, और कर्म से जनता के उज्ज्वल भविष्य के लिए कार्य करने की तड़प जितनी इस स्वस्थ मस्तिष्क वाले आलोचक में है उतनी बहुत कम व्यक्तियों में होगी। सरलता, ईमानदारी और निष्ठा में डॉ० रामविलास शर्मा प्रगतिशील साहित्य के प्रबल

समर्थक होते हुए भी, भारतेन्दुजी, द्विवेदी जी, प्रेमचन्द जी के-से संस्कारों के व्यक्ति लगे, जो केवल साहित्य और जनता के हित की बातें सोचने में ही जीवन की सार्थकता समझते हैं। वे जनता को एक क्षण को भी नहीं भुला पाते। सहृदयता और सादगी का उनमें अपूर्व समन्वय है। सुलझे हुए विचार तो उनकी एक ऐसी विशेषता है, जिसका आदर सभी करते हैं। उनसे मिलकर पाठक अपनी उस धारणा में कोई परिवर्तन नहीं करेगा, जो उनके साहित्य को पढ़कर वह बनायगा। जीवन और साहित्य उनके लिए एक वस्तु के दो नाम हैं। जन-साहित्य की उपयोगिता का महत्त्व समझाने वाला यह आलोचक हिन्दी की एक शक्ति है, यह निर्विवाद है।